जीवन
का
कर्तव्य
साधु रामसुखदास

श्रीहरिः

परिचय

इसमें हमारे स्वामीजी श्रीरामसुखदासजीके कुछ लेखोंका संग्रह है। जिन लोगोंको स्वामीजीके गीतासम्बन्धी तथा अन्यान्य परमार्थ-विषयक प्रवचन सुननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अथवा जो सज्जन श्रीस्वामीजीकी जीवनचर्यासे परिचित हैं, उन्हें तो स्वामी-जीके लेखोंकी सारगर्भिता और उपयोगिताके सम्बन्धमें कुछ बताना नहीं है। वस्तुतः उनके लेखका एक-एक वाक्य साधकोंके तथा परमार्थ-पथिकोंके लिये ज्योतिपूर्ण पथप्रदर्शकका काम देगा। इसमें थोड़ेमें बहुत-से उपयोगी विषय आ गये हैं। आशा है, हमारे पाठक इन साधु-पुरुषके अमृतमय वचनोंसे लाभ उठायेंगे।

पुरुषोत्तम मास त्रयोदशी
सं० २०१० — हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

निवेदन

इधर, कुछ वर्षोंसे मुझे भगवद्विषयकी चर्चाके निमित्त गीताके श्लोकोंके आधारपर अथवा स्वतन्त्ररूपसे भी अपनी टूटी-फूटी भाषामें लोगोंके समक्ष कुछ कहनेका अवसर मिलता रहता है। मेरा यह कथन या प्रवचन सुनकर कुछ भाइयोंने मुझसे इन भावोंको लिपिबद्ध करनेका आग्रह किया और उन्होंने स्वयं ही कुछ व्याख्यानोंको लिख भी लिया। यद्यपि मेरे प्रवचन-में गीतादि शास्त्रोंके सिवा और कोई नयी बात नहीं, किंतु लोगों-का आग्रह देखकर और भगवान्‌के भावोंका किसी भी निमित्तसे अधिकाधिक प्रचार हो, यही अच्छा समझकर उन लिखे हुए व्याख्यानोंको संशोधित करके 'कल्याण' मासिकपत्रमें छपनेके लिये भेज दिया गया। उन्हीं लेखोंका यह संग्रह लोगोंके विशेष आग्रहसे छापा जा रहा है।

इन लेखोंमें साधारणतया भगवत्-सम्बन्धी भावोंकी ही कुछ चर्चा की गयी है। इनकी भाषा तो शिथिल है ही, पुनरुक्तियाँ भी कम नहीं हैं, किंतु भगवान्‌की चर्चामें पुनरुक्तिको दोष नहीं माना जाता, यही समझकर पाठकगण इनमें जो भी—चेतावनी, वैराग्य, नामजप, रूपचिन्तन, भक्ति और भगवत्-स्वरूपकी जानकारी आदि बातें उनको अच्छी जान पड़ें, उन्हींको यदि आचरणमें लानेका प्रयत्न करेंगे तो मैं अपने ऊपर उनकी बड़ी भारी कृपा समझूँगा। आशा है, विज्ञजन मेरी धृष्टता क्षमा करेंगे।

विनीत—

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

श्रीहरिः

वन्दना

सत-चित-सुखमय अचल सम
रहत सकल थित राम ।
अलख अगुन अरु गुन सहित
नित प्रति करउँ प्रनाम ॥ १ ॥
जनम-करम-अघहर अमल
श्रवन-सुखद गुनगाथ ।
मम तन मन जन बचन सब
तव अरपन जदुनाथ ॥ २ ॥
सुर नर मुनिबर चर अचर
सब कर हित करनार ।
तिन कर गुन गन कछु कहत
लघु जन मति अनुसार ॥ ३ ॥
गुन तव, मन तव, बचन तव,
तन तव, सब तव, ईस ।
सरन सुखद तव पद कमल
इक रति करु बखसीस ॥ ४ ॥

—स्वामी रामसुखदास

श्रीहरिः

जीवनका कर्तव्य

समयका मूल्य और सदुपयोग

श्रीपरमात्माकी इस विचित्र सृष्टिमें मनुष्य-शरीर एक अमूल्य एवं विलक्षण वस्तु है। यह उन्नति करनेका एक सर्वोत्तम साधन है। इसको प्राप्त करके सर्वोत्तम सिद्धिके लिये सदा सतत चेष्टा करनी चाहिये। इसके लिये सर्वप्रथम आवश्यकता है–ध्येयके निश्चय करनेकी। जबतक मनुष्य जीवनका कोई ध्येय—उद्देश्य ही नहीं बनाता, तबतक वह वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं; क्योंकि उद्देश्यविहीन जीवन पशु-जीवनसे भी निकृष्ट है, किंतु जैसे मनुष्य-शरीर सर्वोत्तम है, वैसे इसका उद्देश्य भी सर्वोत्तम ही होना चाहिये। सर्वोत्तम वस्तु है परमात्मा। इसलिये मानव-जीवनका सर्वोत्तम ध्येय है—परमात्माकी प्राप्ति, जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

इस परमात्माकी प्राप्तिके लिये सबसे पहला और प्रधान साधन है–'जीवनके समयका सदुपयोग।' समय बहुत ही अमूल्य वस्तु है।

जगत्के लोगोंने पैसोंको तो बड़ी वस्तु समझा है, किंतु समयको बहुत ही कम मनुष्योंने मूल्य दिया है; पर वस्तुतः विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि समय बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। विचार कीजिये—अपना समय देकर हम पैसे प्राप्त कर सकते हैं, पर पैसे देकर समय नहीं खरीद सकते। अन्तकालमें जब आयु शेष हो जाती है, तब लाखों रुपये देनेपर भी एक घंटे समयकी कौन कहे एक मिनट भी नहीं मिल सकता। समयसे विद्या प्राप्त की जा सकती है, पर विद्यासे समय नहीं मिलता। समय पाकर एक मनुष्यसे कई मनुष्य बन जाते हैं अर्थात् बहुत बड़ा परिवार बढ़ सकता है; पर समस्त परिवार मिलकर भी मनुष्यकी आयु नहीं बढ़ा सकता। समय खर्च करनेसे संसारमें बड़ी भारी प्रसिद्धि हो जाती है, पर उस प्रसिद्धिसे जीवन नहीं बढ़ सकता। समय लगाकर हम जमीन-जायदाद, हाथी-घोड़े, धन-मकान आदि अनेक चल-अचल सामग्री एकत्र कर सकते हैं; पर उन सम्पूर्ण सामग्रियोंसे भी आयु-वृद्धि नहीं हो सकती। यहाँ एक बात और ध्यान देनेकी है कि रुपये, विद्या, परिवार-प्रसिद्धि, अनेक सामग्री आदिके रहते हुए भी जीवनका समय न रहनेसे मनुष्य मर जाता है, किंतु उम्र रहनेपर तो सर्वस्व नष्ट हो जानेपर भी मनुष्य जीवित रह सकता है। इसलिये जीवनके आधारभूत इस समयको बड़ी ही सावधानीके साथ सदुपयोगमें लाना चाहिये, नहीं तो यह बात-ही-बातमें बीत जायगा; क्योंकि यह तो प्रतिक्षण बड़ी तेजीके साथ नष्ट हुआ जा रहा है। रुपये आदि तो जब हम खर्च करते हैं तभी खर्च होते हैं, नहीं तो तिजूरीमें पड़े रहते हैं; पर समय तो अपने-आप ही खर्च होता चला

जा रहा है, उसका खर्च होना कभी बंद होता ही नहीं । अन्य वस्तुएँ तो नष्ट होनेपर भी पुनः उत्पन्न की जा सकती हैं, पर गया हुआ समय किसी प्रकार भी लौटाया नहीं जा सकता । अतः हमें उचित है कि बचे हुए समयके एक क्षणको भी निरर्थक नष्ट न होने देकर अतिकृपणके धनकी तरह उसकी कीमत समझकर उसे ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगायें। प्रथम श्रेणीका सर्वोत्कृष्ट काम है—पारमार्थिक पूँजीका संग्रह । दूसरी श्रेणीका काम है—सांसारिक निर्वाहके लिये न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन । इनमेंसे दूसरी श्रेणीके काममें लगाया हुआ समय भी मात्र सर्वथा निष्काम होनेपर पहली श्रेणीमें ही गिना जा सकता है ।

इसके लिये हमें समयका विभाग कर लेना चाहिये, जैसे कि भगवान्‌ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गीता ६ । १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ।'

इस श्लोकमें अवश्य करनेकी चार बातें बतलायी गयी हैं— १. युक्ताहारविहार, २. शरीर-निर्वाहार्थ उचित चेष्टा, ३. यथायोग्य सोना और ४. यथायोग्य जागना । पहले विभागमें शरीरको सशक्त और स्वस्थ रखनेके लिये शौच, स्नान, घूमना, व्यायाम, खान-पान, औषध-सेवन आदि चेष्टाएँ सम्मिलित हैं । दूसरा विभाग है—

जीविका पैदा करनेके लिये–जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदिके लिये अपने-अपने वर्ण-धर्मके अनुसार न्याययुक्त कर्तव्यकर्मोंका पालन करना बतलाया गया है। तीसरा विभाग है—शयन करनेके लिये, इसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। अब चौथा प्रमुख विभाग है—जगनेका। इस श्लोकमें 'अवबोध' का अर्थ तो रात्रिमें छः घंटे सोकर अन्य समयमें जगते रहना और उनमेंसे प्रातः-सायं दिनभरमें छः घंटे साधन करना है। परंतु 'अवबोध' से यहाँ वस्तुतः मोहनिद्रासे जगकर परमात्माकी प्राप्ति करनेकी बातको ही प्रधान समझना चाहिये। श्रीशंकराचार्यजीने भी कहा है—'जागर्ति को वा सदसद्विवेकी।'

अब इसपर विचार कीजिये। हमारे पास समय है चौबीस घंटे और काम हैं चार। तब समान विभाग करनेसे एक-एक कार्यके लिये छः-छः घंटे मिलते हैं। उपर्युक्त चार कामोंसे आहार-विहार और शयन—ये दो तो खर्चके काम हैं और व्यापार तथा अवबोध (साधन करना)—ये दो उपार्जनके काम हैं। इस प्रकार खर्च और उपार्जन–दोनोंके लिये क्रमशः बारह-बारह घंटे मिलते हैं। इनमें लगानेके लिये हमारे पास पूँजी हैं दो—एक समय और दूसरा द्रव्य; इनमेंसे द्रव्य तो लौकिक पूँजी है और समय अलौकिक पूँजी है। आहार-विहारमें तो द्रव्यका व्यय होता है और शयनमें समयका। इसी प्रकार जीविका और अवबोध (साधन करने) में केवल समयका व्यय होता है, किंतु अलौकिक पूँजीरूप समयका तो चारोंमें ही व्यय होता है। अब हमें सोचना चाहिये कि अलौकिक पूँजीको खर्च करके तो अलौकिक लाभ ही प्राप्त करने योग्य है।

साधारणतया आहार, विहार और जीविकाके कार्यसे हम लौकिक लाभ ही उठाते हैं तथा शयनमें तो श्रम दूर करनेके सिवा कोई विशेष लाभकी बात दीखती ही नहीं, परंतु ये ही सब कर्म यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो सर्वोत्तम अलौकिक लाभ प्रदान कर सकते हैं ।

यहाँ एक बात और समझनेकी है कि यदि साधन भी सकामभावसे किया जाता है तो वह समय भी लौकिक लाभ ही देनेवाला होता है और निष्कामभावसे करनेपर वही साधन अलौकिक लाभ देनेवाला हो जाता है । अतः हमें सभी काम निष्कामभावसे ही करने चाहिये ।

अभिप्राय यह कि हमें अवबोध—मोहनिद्रासे जगकर परमात्माकी ओर ही अपनी सब क्रियाओंका लक्ष्य बना लेना चाहिये । इससे हमको जो अबतक केवल सांसारिक लौकिक लाभ ही हो रहा था, उसकी जगह अलौकिक लाभ होने लगेगा और इस प्रकार हम लौकिक पूँजीको भी अलौकिक पूँजी बना सकेंगे ।

यह बात तो ऊपर कही जा चुकी कि आहार-विहार और शयन—ये दोनों खर्चके काम है, इनमें भी आहार-विहारमें तो द्रव्यका खर्च है और शयनमें जीवनका । इसी प्रकार जीविका और अवबोध—ये दोनों उपार्जनके काम हैं, इनमें आजीविकामें द्रव्यका उपार्जन होता है और अवबोधमें नित्य-जीवन (मोक्ष) का उपार्जन । अतः मनुष्यको चाहिये कि नित्य-जीवनके उपार्जनका समय, जो कि अलौकिक है, द्रव्योपार्जनके साधन—आजीविकाके कार्यमें न लगाये, प्रत्युत उसमें भी निष्कामभाव और भगवत्स्मृतिको सम्मिलित करके उसे नित्य-

जीवनके उपार्जनका साधन बना ले। शयनमें जीवनका खर्च और अवबोधमें नित्य-जीवनका उपार्जन होता है इसलिये जितना सम्भव हो, द्रव्यके खर्चके कारणभूत आहार-विहारमेंसे और जीवनके खर्चके कारणभूत शयनमेंसे समय निकालकर निष्कामभावपूर्वक द्रव्योपार्जन-में तथा नित्य-जीवन—अवबोध (साधन करने) में समय लगाये।

भाव यह है कि शौच-स्नान आदिमें यदि पाँच घंटेसे ही काम चल जाय तो सात घंटे निष्कामभावपूर्वक द्रव्योपार्जनादि कर्मोंमें लगावे और यदि शौच-स्नानादिमें चार घंटेसे ही काम चल जाय तो आठ घंटे निष्कामभावसे द्रव्योपार्जनमें लगावे। इसी तरह सोनेमें यदि पाँच घंटेसे ही काम चल जाय तो सात घंटे भजन-ध्यान, जप, स्वाध्याय-सत्सङ्ग, पूजा-पाठ आदि पारमार्थिक साधनमें लगाने चाहिये और यदि शयनमें चार घंटेसे ही काम निकल जाय तो आठ घंटे भजन-ध्यानादिमें अवश्य लगाने चाहिये। तात्पर्य यह कि आय अधिक और व्यय कम होना चाहिये। अर्थात् हो सके, जितना समय निद्रासे निकालकर तो लगाया जाय भजनमें और खान-पानादिसे समय निकालकर लगाया जाय निष्कामभावपूर्वक आवश्यक काम-काजमें।

क्योंकि काम-काज करते समय भी यदि निष्काम भाव रखकर भगवद्-आज्ञासे न्यायपूर्वक कर्तव्य-पालन किया जाय तो वह समय भी भजनमें ही लगा समझा जा सकता है तथा खान-पानादि भी केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही किया जाय तो वह भी एक तरहसे भजन ही है एवं निद्रा भी भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ली जाय तो वह भी भजनमें ही सम्मिलित हो सकती है। इनमें भी साथ-साथ भगवान्के नामका जप और

स्वरूपका ध्यान तो करते रहना ही चाहिये । इस प्रकार उद्देश्य एक बन जानेपर तो सभी कार्य भगवत्प्राप्ति करानेवाले हो जाते हैं ।

जैसे किसी नदीके बहुत बड़े प्रवाहको भी जब नहरें निकालकर अनेक शाखाओंके रूपमें विभिन्न कर दिया जाता है, तब वह बहुत बड़ा प्रवाह भी अपने एकमात्र अन्तिम लक्ष्य समुद्रतक नहीं पहुँच पाता और पृथ्वीपर ही इधर-उधर बिखरकर समाप्त हो जाता है; किंतु किसी नदीका एक साधारण प्रवाह भी यदि अपने लक्ष्य समुद्रकी ओर एक ही रूपसे चलता रहता है तो अन्यान्य छोटे-छोटे निर्झर आदिकी अनेक शाखाओंके प्रवाह भी उसीमें आकर सम्मिलित होते रहते हैं और वही बहुत बड़ा प्रवाह बनकर अपने गन्तव्य लक्ष्य समुद्रतक पहुँच जाता है ।

इसी प्रकार उद्देश्य अनेक होनेपर अर्थात् कोई निर्धारित लक्ष्य न होनेपर या केवल लौकिक लक्ष्य होनेपर बड़े-बड़े कार्य और परिश्रम भी वास्तविक कार्यकी सिद्धि नहीं कर सकते, किंतु ध्येय एक और केवल पारमार्थिक होनेपर साधारण-से-साधारण क्रियाएँ भी बहुत कुछ कर सकती हैं अर्थात् उनसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि जिसका लक्ष्य भक्त ध्रुवकी तरह ध्रुव यानी अटल है, वही निर्बाधरूपसे और शीघ्र सिद्धि लाभ कर सकता है । उसके मार्गमें कोई भी विघ्न-बाधाएँ नहीं आतीं; जो आती हैं, वे भी सहायक ही हो जाती हैं ।

संसारके मनुष्योंको तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है—द्वेषी, प्रेमी और उदासीन । ध्रुवजीको उनसे द्वेष रखनेवाली माता सुरुचिने

भी यही उपदेश दिया कि इस पदको प्राप्त करनेके लिये तुम भगवान् विष्णुकी आराधना करो और उनसे प्रेम करनेवाली माता सुनीतिने भी इसीका समर्थन किया तथा उदासीन श्रीनारदजीने भी अन्तमें श्रीविष्णु-भक्तिका ही उपदेश दिया । कहनेका अभिप्राय यह है कि जिसकी साधना, तपस्याका लक्ष्य ध्रुव है, अटल है, उसके लिये कोई बाधक नहीं; द्वेषी-प्रेमी या उदासीन—सभी विभिन्न प्रकारसे इसके सहायक ही बन जाते हैं ।

किंतु हिरण्यकशिपुकी भाँति जिसका लक्ष्य पारमार्थिक नहीं, उसकी क्रियाएँ बलवती होनेपर भी वास्तविक सिद्धि नहीं दे सकतीं । ब्रह्माजीने स्वयं बतलाया कि हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष-जैसी तपस्या सृष्टिमें अभीतक किसीने नहीं की । हजारों वर्षोंतक ऐसी कठोर तपस्या करनेपर भी उनका लक्ष्य पारमार्थिक न होनेसे वास्तविक सिद्धि नहीं हुई—उनके विरोधी और उदासीन व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या, सहायक भी छिन्न-भिन्न हो गये ।

अतः मनुष्यको उचित है कि अपना लक्ष्य एक परमात्माको बनाकर सावधानीके साथ तत्परतापूर्वक यथोक्त रीतिसे कर्तव्यकर्म करता रहे । ऐसा करनेपर वह अनायास ही परम ध्येयकी सिद्धि कर सकता है । आवश्यकता है सजग रहनेकी—सावधानीकी । मनुष्यको हर समय जागरूक होकर इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि मन, इन्द्रियों और शरीर आदिकी चेष्टाएँ कहीं संसारको मूल्यवान् समझकर न होने लग जायँ अर्थात् संसार लक्ष्य न बन जाय; इस प्रकार हर समय एक लक्ष्यसिद्धिकी जागृति बनी रहनी चाहिये ।

लक्ष्य स्थिर करके चलनेवालेके लिये निम्नलिखित दो बातोंमेंसे किसी एकको भलीभाँति समझ लेने और निरन्तर स्मरण रखनेकी तो बहुत ही आवश्यकता होती है । दोनों रहें तब तो कहना ही क्या है ! एक तो यह कि हमें पहुँचना कहाँ है और दूसरी यह कि उसका मार्ग कौन-सा है । जैसे हमें किसी पहाड़पर एक देवमन्दिरमें जाना है तो पहले उसका दिग्दर्शन हो जाय कि जहाँ जाना है तो फिर हम उस दिशाकी ओर दृष्टि करके चलते रहें । अथवा मन्दिर न दीखनेपर भी हमें केवल रास्ता मिल जाय कि इस रास्तेसे इस प्रकार पहाड़पर स्थित देवमन्दिरमें पहुँचा जा सकता है तो हम केवल रास्तेके आधारपर ही चल सकते हैं ।

पहले लक्ष्यके स्वरूपको समझना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति क्या है । भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(६ । २२)

अर्थात् उसकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर अन्य कोई लाभ होता है, ऐसी मान्यता उसके मनमें रह ही नहीं सकती और उसमें स्थित हो जानेपर बड़ा भारी दुःख भी उसे कभी विचलित कर नहीं सकता, यानी कैसा भी कष्ट क्यों न प्राप्त हो, हमारे परम आनन्दमें कभी कमी आ ही नहीं सकती, तो फिर दुःख तो वहाँ रह ही कैसे सकता है ? दुःखका तो वहाँ आरम्भ ही नहीं हो सकता; क्योंकि सुखमें कमी आनेसे ही दुःखके आनेकी गुंजाइश रहती है और सुखकी

कभी, किञ्चित् भी कमी वहाँ रहती नहीं । उस स्थितिमें हर समय एकरस समता बनी रहती है; राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय, उद्वेग आदि भाव अन्तःकरणमें कभी हो ही नहीं सकते । कर्म, क्लेश, विकार, अज्ञान, संशय, भ्रम आदि दुःख और दुःखोंके कारणोंका सदाके लिये विनाश हो जाता है । यह है वस्तुस्थिति; यही प्राप्तव्य है और यही गन्तव्य लक्ष्य है ।

दूसरा है मार्ग । मार्ग क्या है ? हम कोई भी काम करें, वह होना चाहिये शास्त्रविहित और हमारे लिये विशेषरूपसे निर्धारित किया हुआ । उस कामको राग-द्वेषरहित होकर भगवदाज्ञा मानकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ भगवच्चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे तत्परतापूर्वक करते रहें ।

लक्ष्य और मार्ग स्थिर कर लेनेपर भी साधकके लिये एक बहुत बड़ी आवश्यकता है—भगवान्पर भरोसा रखनेकी । हृदयमें यह विश्वास सुदृढ़ होना चाहिये कि 'मेरा वह कार्य अवश्य ही सिद्ध होगा, क्योंकि मुझपर भगवान्की बड़ी भारी कृपा है ।' भगवान्के मार्गपर चलनेवालेके लिये बड़े भारी आश्वासनकी बात तो यह है कि इसमें घाटा (नुकसान) तो कभी होता ही नहीं—

तुलसी सीताराम कहु दृढ़ राखहु बिस्वास ।
कबहूँ बिगरे ना सुने रामचन्द्र के दास ॥

इसलिये हमें परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी ओर बड़े जोरोंसे उत्साहपूर्वक लग जाना चाहिये, क्योंकि समय है बहुत थोड़ा और काम है बहुत अधिक । संसारके भोगोंका तो कोई अन्त ही नहीं है—

दुनियाके जो मजे हैं हरगिज भी कम न होंगे।
चरचे यही रहेंगे अफसोस हम न होंगे॥

—तब फिर हमारा कौन होगा ? अतएव—

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

'कल्याणके लिये अतिशीघ्र यत्न करे और मृत्युपर्यन्त कहीं भी मार्गसे च्युत न हो, इसके लिये सदा सावधान रहे; क्योंकि विषय-पदार्थ तो सर्वत्र ही उपलब्ध हो जाते हैं।'

इस भगवद्वाक्यके अनुसार शीघ्रता करनी चाहिये; क्योंकि अन्य सब वस्तुएँ और बातें तो सभी जगह मिल जायँगी, पर भगवत्प्राप्तिका सुअवसर तो केवल इस मानव-शरीरमें ही है--

श्रीभर्तृहरिने कहा है—

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत् क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

'जबतक यह शरीर स्वस्थ है और जबतक वृद्धावस्था दूर है तथा जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है एवं जबतक आयुका क्षय नहीं हुआ है, तभीतक समझदार मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये; अन्यथा घरमें आग लग जानेपर कुआँ खोदनेके लिये परिश्रम करनेसे क्या लाभ ?'

कर्मयोग

समतापूर्वक कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना ही कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोगमें खास निष्कामभावकी मुख्यता है। निष्काम-भाव न रहनेपर कर्म केवल 'कर्म' होते हैं; कर्मयोग नहीं होता। शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करनेपर भी यदि निष्कामभाव नहीं है तो उन्हें कर्म ही कहा जाता है, ऐसी क्रियाओंसे मुक्ति सम्भव नहीं; क्योंकि मुक्तिमें भावकी ही प्रधानता है। निष्कामभाव सिद्ध होनेमें राग-द्वेष ही बाधक हैं—'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' (गीता ३ । ३४);

वे इसके मार्गमें लुटेरे हैं। अतः राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। तो फिर क्या करना चाहिये?—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(गीता ३। ३५)

—इस श्लोकमें बहुत विलक्षण बातें बतायी गयी हैं। इस एक श्लोकमें चार चरण हैं। भगवान्ने इस श्लोककी रचना कैसी सुन्दर की है! थोड़े-से शब्दोंमें कितने गम्भीर भाव भर दिये हैं। कर्मोंके विषयमें कहा है—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'

यहाँ 'श्रेयान्' क्यों कहा? इसलिये कि अर्जुनने दूसरे अध्यायमें गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भीख माँगना 'श्रेय' कहा था—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके'—(२। ५); किंतु 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२। ७) में अपने लिये निश्चित 'श्रेय' भी पूछा और तीसरे अध्यायमें भी पुनः निश्चित 'श्रेय' ही पूछा—'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३। २)। यहाँ भी 'निश्चित' कहा और दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें भी 'निश्चितम्' कहा है। भाव यह है कि मेरे लिये कल्याणकारक अचूक रामबाण उपाय होना चाहिये। वहाँ अर्जुनने प्रश्न करते हुए कहा—'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन' (३। १); यहाँ 'ज्यायसी' पद है। इस 'ज्यायसी' का भगवान्ने 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' (३। ८) में 'ज्यायः' कहकर उत्तर दिया कि कर्म न

करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। यहाँ भगवान्ने भीख माँगनेकी बात काट दी। तो फिर कर्म कौन-सा करे? इसपर बतलाया कि जो स्वधर्म है, वही कर्तव्य है; उसीका आचरण करो। अर्जुनके लिये स्वधर्म क्या है? युद्ध करना। १८ वें अध्यायके ४३ वें श्लोकमें भगवान्ने क्षत्रियके जो स्वाभाविक कर्म बतलाये हैं, क्षत्रिय होनेके नाते अर्जुनके लिये वे ही कर्तव्य कर्म हैं। वहाँ भी भगवान्ने 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'—(१८ । ४७) कहा है। स्वधर्मका नाम स्वकर्म है। यहाँ स्वकर्म है—युद्ध करना। 'स्वधर्मः' के साथ 'विगुणः' विशेषण क्यों दिया। अर्जुनने तीसरे अध्यायके पहले श्लोकमें युद्धरूपी कर्मको 'घोर कर्म' बतलाया है। इसीलिये भगवान्ने उसके उत्तरमें उसे 'विगुणः' बतलाकर यह व्यक्त किया कि स्वधर्म विगुण होनेपर भी कर्तव्यकर्म होनेसे श्रेष्ठ है। अतः अर्जुनके लिये युद्ध करना ही कर्तव्य है; तथा दूसरे अध्यायके बत्तीसवें श्लोकमें भी भगवान्ने बतलाया कि धर्मयुद्धसे बढ़कर क्षत्रियके लिये दूसरा कोई कल्याणकारक श्रेष्ठ साधन है ही नहीं।

'परधर्मात् स्वनुष्ठितात्'

मतलब यह है कि परधर्ममें गुणोंका बाहुल्य भी हो और उसका आचरण भी अच्छी तरहसे किया जाता हो तथा अपने धर्ममें गुणोंकी कमी हो और उसका आचरण भी ठीक तरहसे नहीं बन पाता हो, तब भी परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म ही 'श्रेयान्'—अति श्रेष्ठ है। जैसे पतिव्रता स्त्रीके लिये अपना पति सेव्य है, चाहे वह विगुण ही हो। श्रीरामचरितमानसमें कहे हुए—

वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥

—ये आठों अवगुण अपने पतिमें विद्यमान हों और उसकी सेवा भी साङ्गोपाङ्ग नहीं होती हो, तथा पर-पति गुणवान् भी हो और उसकी सेवा भी अच्छी तरह की जा सकती हो, तो भी पत्नीके लिये अपने पतिकी सेवा ही श्रेष्ठ है, वही सेवनीय है; पर-पति कदापि सेवनीय नहीं । उसी प्रकार स्वधर्म ही श्रेयान् (श्रेष्ठ) है पर-धर्म कदापि नहीं ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

—इससे भगवान्‌ने यह भाव बतलाया है कि कष्टोंकी सीमा मृत्यु है और स्वधर्म-पालनमें यदि मृत्यु भी होती हो तो वह भी परिणाममें कल्याणकारक है । तात्पर्य यह कि परधर्ममें प्रतीत होनेवाले गुण, उसके अनुष्ठानकी सुगमता और उससे मिलनेवाले सुखकी कोई कीमत नहीं है; क्योंकि वह परिणाममें महान् भयावह है । बल्कि अपने धर्ममें गुणोंकी कमी, अनुष्ठानकी दुष्करता और उसमें होनेवाला कष्ट भी महान् मूल्यवान् है; क्योंकि वह परिणाममें कल्याणकारक है । फिर जिस स्वधर्ममें गुणोंकी कमी भी न हो, अनुष्ठान भी अच्छी प्रकार किया जा सकता हो तथा उसमें सुख भी होता हो, वह सर्वथा श्रेष्ठ है—इसमें तो कहना ही क्या है ।

उपर्युक्त श्लोककी व्याख्याके अनुसार मनुष्यको कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे अनुष्ठान करनेमें लग जाना चाहिये ।

वैराग्य

तपसामपि सर्वेषां वैराग्यं परमं तपः।

यज्ञ, दान, योग, तीर्थ, व्रत, स्वाध्याय आदि पुण्य कर्मरूप सभी प्रकारकी तपस्याओंमें वैराग्य परम तप है; क्योंकि अन्यान्य धार्मिक कार्य (तप) सकामभावसे करनेपर उनके द्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और निष्कामभावसे करनेपर ही वे परमात्माकी प्राप्तिके साधन बनते हैं, परन्तु वैराग्य तो निष्कामभावसे ही होता है। सकामभाव और वैराग्य—दोनों एक जगह रह ही कैसे सकते हैं? अतः पारमार्थिक साधकके लिये एक वैराग्य ही बहुत आवश्यक और परम उपयोगी है। जबतक वैराग्य नहीं तबतक चाहे जितनी डींगें मारें, उनसे कोई भी आध्यात्मिक कार्य सिद्ध नहीं होता। दूसरी ओर यदि हमें बातें करना नहीं आता, ज्ञानयोग तथा हठयोगकी युक्तियाँ भी हम नहीं जानते, तो भी केवल वैराग्य होनेपर ध्यान आदि साधन सरलतासे स्वयमेव होने लगते हैं, ध्यान आदिकी युक्तियाँ बिना सीखी हुई स्वतः स्फुरित होने लगती हैं। जबतक संसारके पदार्थोंमें राग है और प्रभुमें प्रेम नहीं तबतक वैराग्य नहीं। वैराग्य नाम है सांसारिक पदार्थोंमें आन्तरिक रागके अभावका। बाहरी स्वाँगका नाम वैराग्य नहीं है। वैराग्य भीतरी त्यागके भावका वाचक है।

वैराग्य कई हेतुओंसे होता है—दुःखसे, भयसे, विचारसे, साधनसे और परमात्मतत्त्वके बोधसे। इन सबमें पूर्व-पूर्व वैराग्यकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका वैराग्य श्रेष्ठ है।

दुःखसे होनेवाला वैराग्य—घर, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार

आदिकी अनुकूलता न होनेपर तथा परिस्थितिकी प्रतिकूलता प्राप्त होनेपर जो मनमें संसारके त्यागकी उकताहटसे भरी भावना होती है, उसे दुःखसे होनेवाला वैराग्य कहते हैं। यह दुःखसे होनेवाला वैराग्य असली नहीं; क्योंकि हमें आराम नहीं मिला, दुत्कार मिली, तिरस्कार मिला या मनमानी चीज नहीं मिली तो मनमें भाव आया कि छोड़ो संसारको, इसमें क्या पड़ा है। संसारमें तो केवल दुःख-ही-दुःख भरा है। इस प्रकारका वैराग्य तो सभीको हो सकता है। कुत्ता भी तनी हुई लाठी देखकर भागता है, अपनी जान बचाता है। अतः वह यथार्थ वैराग्य नहीं। इसमें जो कुछ उकताहट है और अनुकूलताका अनुसंधान है, वह वैराग्य नहीं। उसमें तो राग ही कारण है; क्योंकि दुःखके कारण हटनेपर अर्थात् अनुकूलता प्राप्त हो जानेपर वह त्यागका भाव रहना कठिन है। यदि प्रतिकूलता न रहे, सब कुटुम्बीजन मनोऽनुकूल सेवा करने लगें, तो फिर वैराग्य भूल जाता है। उसमें केवल जो पदार्थोंको दुःखका कारण समझनेका भाव है, वही वैराग्यका अंश है। इस प्रकार दुःखके कारण होनेवाला वैराग्य यथार्थ वैराग्य नहीं है, किंतु उस समय यदि सङ्ग अच्छा मिल जाय तो वही वैराग्य अधिक बढ़कर आत्मोद्धारमें कारण बन सकता है। इसलिये उसे भी वैराग्य कह सकते हैं।

भयसे होनेवाला वैराग्य—दुःखसे होनेवाले वैराग्यकी अपेक्षा भयसे होनेवाला वैराग्य श्रेष्ठ है। स्वास्थ्यका भय, राज्यका भय, समाजका भय, मान-प्रतिष्ठाका भय, जन्म-मरणका भय और नरकोंका भय—इन अनेक प्रकारके भयोंसे होनेवाले रागके अभावको 'भयसे होनेवाला वैराग्य' कहते हैं।

भोगोंके भोगनेसे शरीर शिथिल होता है, रोग बढ़ते हैं, शक्तिका ह्रास होता है, कार्य करनेका साहस नहीं होता—आदि-आदि क्लेशोंके भयसे जो हरेक चीजके खाने-पीने और स्त्रीसङ्ग आदि भोगोंसे मनका हटना है, एवं इसी प्रकार रोगादिके हो जानेपर उनकी वृद्धि न हो जाय, अतः उनमें कुपथ्यरूप भोगोंसे जो मनका हटना है, यह स्वास्थ्यनाशके भयके कारण होनेवाला 'वैराग्य' है।

जुर्माना, कारागार, फाँसी आदिके भयसे चोरी, व्यभिचार, डकैती, हिंसा आदि अत्याचार-अनाचारसे प्राप्त होनेवाले भोगोंसे जो मनका हट जाना है, यह 'राज्यभयसे होनेवाला वैराग्य' है।

जाति-बहिष्कार, आर्थिक व्यय, लड़के-लड़कीके विवाहमें कठिनता; समाजमें बदनामी आदिके भयसे जो जातिके नियमोंको भङ्ग करके भोगोंके भोगनेकी इच्छाका त्याग करना है, यह 'समाज-भयसे होनेवाला वैराग्य' है।

वेश्यागमन, मदिरापान, हिंसा आदिसे कुलपरम्परागत मानका नाश होगा तथा लोग हमें नीची दृष्टिसे देखेंगे—ऐसे विचारसे लौकिक मर्यादाको छोड़कर भोगोपभोगके त्यागका जो भाव है, यह 'मान-प्रतिष्ठाके भयसे होनेवाला वैराग्य' है।

जन्म-मरणका प्रधान कारण है—पदार्थ, क्रिया, भाव और व्यक्ति आदिमें आसक्ति रहना। अतः इन पदार्थोंका चिन्तन होगा तो मरनेके समय भी इन्हींका स्मरण होगा और अन्तकालीन स्मरणके अनुसार ही आगे जन्म होगा—इस भयसे पदार्थ-क्रिया आदिमें जो रागका न रहना है, यह 'जन्म-मरणके भयसे होनेवाला वैराग्य' है।

काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियोंके वश होकर शास्त्रके विपरीत पदार्थोंका अन्यायपूर्वक सेवन करनेसे वैतरणी, असिपत्रवन, लालाभक्ष्य, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक आदि नरकोंकी प्राप्ति होगी, वहाँ अनेक भयानक कष्ट भोगने पड़ेंगे; यहाँका विषय-सुख तो क्षणिक होगा, परन्तु इसके परिणाममें प्राप्त होनेवाली नारकीय पीड़ा अत्यन्त भयानक और बहुत समयतक रहनेवाली होगी—इस भयके कारण मनके काम-क्रोधादिसे हटनेको 'नरकोंके भयसे होनेवाला वैराग्य' कहते हैं।

इस प्रकार भयसे होनेवाले वैराग्यके कई रूप हैं। इनमें नरकोंके भयसे होनेवाला वैराग्य अन्य भयोंसे होनेवाले वैराग्यकी अपेक्षा स्थायी और श्रेष्ठ है, पर यह भी असली वैराग्य नहीं है। इनमें भी पदार्थोंसे सूक्ष्म राग नहीं छूटा है। केवल भयके कारण पदार्थोंसे मन हटा है—यह भयसे होनेवाला वैराग्य है; भय न रहे तो इस वैराग्यका रहना भी कठिन है।

विचारसे होनेवाला वैराग्य—भयसे होनेवालेकी अपेक्षा विचार—विवेकसे होनेवाला वैराग्य ऊँचा है। विचारका अर्थ है—सत्-असत्, सार-असार, हेय-उपादेय और कर्तव्य-अकर्तव्य आदिका विवेक। इस विवेकसे जो असत्, असार, हेय और अकर्तव्यका मनसे परित्याग है अर्थात् इनके प्रति मनके रागका जो अभाव हो जाना है, उसको विचारसे होनेवाला वैराग्य कहते हैं। विषय-सेवन करनेसे परिणामतः विषयोंमें राग-आसक्ति बढ़ती है, जो कि सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है और विषयोंमें वस्तुतः सुख है भी नहीं। केवल आरम्भमें सुख प्रतीत होता है। गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम्॥
(५। २२; १८। ३८)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

विषयोंमें सुख होता तो बड़े-बड़े धनी, भोगी और पदाधिकारी भी सुखी होते। पर विचारपूर्वक देखनेपर पता चलता है कि वे भी दुःखी ही हैं। पदार्थोंमें शान्ति है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं। विचारशील व्यक्तिको तो पद-पदपर अनुभव भी होता है कि इनमें सुख नहीं है।

चाख चाख सब छाड़िया माया-रस खारा हो।
नाम-सुधारस पीजिये छिन बारंबारा हो॥

जो-जो भोग सुख-बुद्धिसे भोगे गये, उन-उन भोगोंसे धीरज नष्ट हुआ, ध्यान नष्ट हुआ, रोग उत्पन्न हुए, चिन्ता हुई, व्यग्रता हुई, पश्चात्ताप हुआ, बेइज्जती हुई, बल गया, धन गया, शान्ति गयी एवं प्रायः दुःख-शोक-उद्वेग आये—ऐसा यह परिणाम प्रत्यक्ष

देखनेमें आता है। इससे मालूम होता है, कि विषयोंमें सुख नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नमें जल पीते हैं पर प्यास नहीं मिटती, उसी प्रकार पदार्थोंसे न तो शान्ति मिलती है और न जलन ही मिटती है। मनुष्य सोचता है कि इतना धन हो जाय, इतना ऐश्वर्य हो जाय, तो शान्ति मिलेगी; किंतु उतना हो जानेपर भी शान्ति नहीं होती, उल्टे पदार्थोंके बढ़नेसे उनकी लालसा और बढ़ जाती है—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' धन-परिवार होनेपर उनके और बढ़नेकी लालसा होती है। राज्य होनेपर राज्य और बढ़ जाय, यह लालसा होती है। इस प्रकार 'और हो जाय', 'और हो जाय'—यह क्रम चलता ही रहता है। किंतु संसारमें जितना धन-धान्य है, जितनी स्त्रियाँ हैं, जितनी सामग्रियाँ हैं, वे सब-की-सब एक साथ किसी एक व्यक्तिको मिल जायँ तब भी उनसे उसे तृप्ति नहीं हो सकती। शास्त्रमें कहा है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

इसका कारण यह है कि जीव परमात्माका अंश तथा चेतन है और पदार्थ प्राकृत तथा जड हैं। चेतनकी भूख जड पदार्थोंके द्वारा कैसे मिट सकती है। भूख है पेटमें और हलवा बाँधा जाय पीठपर तो भूख कैसे मिटे। प्यास लगनेपर गरमागरम बढ़िया-से-बढ़िया हलवा खानेसे भी प्यास नहीं मिट सकती। भूखे व्यक्तिकी भूख ठंडा जल पीनेसे कैसे निवृत्त हो सकती है। इसी प्रकार जीवको प्यास तो है चिन्मय परमात्माकी, किंतु वह उस प्यासको मिटाना चाहता है जड पदार्थोंके द्वारा! इसमें मुख्य कारण है—अविवेक!

जीवका अविवेक मिटानेमें पदार्थ सर्वथा असमर्थ हैं; अतः वे शान्ति प्रदान नहीं कर सकते। उल्टी राह चलनेसे गन्तव्य स्थानपर कैसे पहुँचेंगे। चाहे ब्रह्माजीकी आयुके कालतक जीव ऐश्वर्यके संग्रह और भोगोंके भोगनेमें लगा रहे तो भी उसकी भूख कभी नहीं मिट सकती, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब कामनाका अत्यन्त अभाव होगा।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'जो भी संसारमें इष्ट पदार्थोंके मिलनेसे सुख होता है तथा जो स्वर्गीय महान् सुख है, वे सब सुख मिलकर भी तृष्णानाशके सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हो सकते।'

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
यत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

'एकान्तशील वीतराग मुनिको जो सुख है वह सुख न तो इन्द्रको है न चक्रवर्ती सम्राट्को ही।' संतोंने क्या ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पंडिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा रोग गयाँ॥

'तृष्णारूपी रोगके चले जानेपर सुख सहज ही आ जायगा।' जबतक पदार्थोंकी लोलुपता है, दासता है, तबतक सुख कहाँ? दासता, लोलुपता, दीनता मिटनेपर ही सुख होगा और यह मिटेगी चाहके न रहनेपर।

चाह गयी चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये सो जग शाहन्शाह॥

जबतक चाह है, तबतक चिन्ता नहीं मिटती और जबतक चिन्ता नहीं मिटती, तबतक सुख नहीं हो सकता ।

पिङ्गला नामकी एक वेश्या थी । वह बड़ी प्रसिद्ध थी । बहुत-से भोगी, धनी उसके यहाँ आया करते थे और उसे धन दिया करते थे; किंतु एक दिन रात्रिको वह राह देखती ही रह गयी, पर कोई धन देनेवाला आया ही नहीं । इससे वह बड़ी उद्विग्न थी । इतनेमें ही उसने देखा कि उधरसे दत्तात्रेयजी अपनी मस्तीमें घूमते हुए चले आ रहे हैं । उनको देखकर वह विचारने लगी कि 'इस जनक राजाकी विदेहनगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा हूँ, जो दूसरे पुरुषोंसे सुख और तृप्ति चाहती हूँ । वे मुझे क्या सुख देंगे, मेरी क्या तृप्ति करेंगे । यदि उनके पास सुख होता और वे मुझे सुख दे सकते तो मेरे पास उसे लेने क्यों आते ? जो स्वयं अपनी प्यास नहीं बुझा सकता, वह दूसरेकी क्या बुझायेगा । जो स्वयं टुकड़ेके पीछे कुत्तेकी तरह सुखके लिये दर-दर भटकता है, वह औरोंको क्या सुख देगा ?' दत्तात्रेयजीकी मस्ती देखकर उसके मनमें ऐसे विचार आये और उसे वैराग्य हो गया । उसने सोचा—'अबतक मैंने बड़ी भूल की, अब मैं अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करूँगी ।' उसके विषयमें श्रीशुकदेवजीने कहा है—

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिंगला ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ८ । ४४)

'आशा ही सबसे बड़ा दुःख और वैराग्य ही सबसे बड़ा

सुख है। पिङ्गला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी।'

सचमुच आशा ही दुःखों और पापोंकी जड़ है। गीतामें अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया है कि मनुष्य पाप करना नहीं चाहता, फिर भी बलात्कारसे किसकी प्रेरणासे पाप करता है?' इसपर भगवान्ने उत्तरमें कामनाको ही पापका कारण बतलाया। जितने व्यक्ति जेलमें पड़े हैं, जितने नरकोंकी भीषण यातना सह रहे हैं और जिनके चित्तमें शोक-उद्वेग हो रहे हैं तथा जो न चाहते हुए पापाचारमें प्रवृत्त होते हैं, उन सबमें कारण भीतरकी कामना ही है। संसारमें जितने भी दुखी हैं, उन सबका कारण एक कामना ही है। कामना प्रत्येक अवस्थामें दुःखका अनुभव कराती रहती है—जैसे पुत्रके न होनेपर पुत्र होनेकी लालसाका दुःख, जन्मनेपर उसके पालन-पोषण, विद्याध्ययन और विवाहादिकी चिन्ताका दुःख और मरनेपर अभावका दुःख होता है। कामनाके रहनेपर तो प्रत्येक हालतमें दुःख ही होगा। अतएव जिस प्रकार आशा ही परम दुःख है, इसी प्रकार निराशा—वैराग्य ही परम सुख है। स्त्री, पुत्र, परिवार—सब आज्ञाकारी मिल जायँ, तब भी सुख नहीं होगा, सुख तो इनकी कामनाके परित्यागसे ही होगा। ऐसा विचारकर पिङ्गला अपनी सारी धन-सम्पत्तिको लुटाकर वैराग्यके नशेमें निकल जाती है और निश्चय करती है कि मैं परमात्माका ही भजन-ध्यान करूँगी और परम सुखी हो जाऊँगी।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसंगताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥
संतुष्टा श्रद्दधत्येतद् यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥

(श्रीमद्भा० ११ । ८ । ३८–४०)

(अवश्य मुझपर आज भगवान् प्रसन्न हुए हैं) अन्यथा मुझ अभागिनीको ऐसे क्लेश ही नहीं उठाने पड़ते, जिससे 'वैराग्य' होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही सब बन्धनोंको काटकर शान्ति लाभ करता है। अब मैं भगवान्का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन परमेश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ। अब मुझे प्रारब्धानुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और संतोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरेकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी।'

सुख यदि पदार्थोंमें होता तो राजा-महाराजा राज्यका और पदार्थोंका त्याग क्यों करते। राजा भर्तृहरिने कहा है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलने क्षमः॥

'अकेला, स्पृहारहित, शान्तचित्त, करपात्री और दिगम्बर होकर हे शम्भो! मैं कब अपने कर्मोंको निर्मूल करनेमें समर्थ होऊँगा।'

भर्तृहरि सब कर्मोंका निर्मूलन यानी अत्यन्ताभाव—ऐसी अवस्था केवल चाहते ही थे, ऐसी बात नहीं; वे उसे प्राप्त करके ही रहे। उनकी व्याकरणके नियमोंकी कारिकाएँ (श्लोक) देखनेमें आती

हैं, उनका बड़ा सुन्दर साहित्य मिलता है । वे व्याकरण-साहित्य आदिके प्रकाण्ड विद्वान् थे और वे अध्ययन आदि जिस काममें लगे उसे उन्होंने बड़ी तल्लीनतासे किया । जब राज्यकार्य हाथमें लिया, तब उसे बड़ी तत्परतासे और लगनसे सँभालते रहे । रात्रिमें स्वयं वेष बदलकर घूमते और निरीक्षण करते कि मेरी प्रजाको कोई कष्ट तो नहीं है । इस प्रकार प्रजाका पालन भी किया । सारे काम किये, पर किसी जगह भी टिके नहीं, अटके नहीं । पर जब वैराग्य ले लिया, तब फिर उसे छोड़कर कहीं गये नहीं । ठीक ही है—रहने योग्य, ठहरने योग्य एक निर्भय स्थान तो वैराग्य ही है; अन्य तो सभी भयप्रद हैं । स्वयं भर्तृहरिजी कहते हैं—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

'भोगोंमें रोगादिका, कुलमें गिरनेका, धनमें राजाका, मानमें दैन्यका, बलमें शत्रुका, रूपमें बुढ़ापेका, शास्त्रमें विवादका, गुणमें दुर्जनका और शरीरमें मृत्युका भय सदा बना रहता है । इस पृथ्वीमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयसे युक्त हैं । एक वैराग्य ही ऐसा है, जो सर्वथा भयरहित है !'

राजा भर्तृहरिको अपनी पहली अवस्थामें किये हुए कार्योंपर तो पश्चात्ताप ही हुआ, अन्तमें संतोष तो वैराग्यसे ही हुआ । वे कहते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता-
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

हमने भोगोंको नहीं भोगा, भोगोंने ही हमें भोग लिया, हमें समाप्त कर दिया। अच्छे कुलमें जन्म होनेपर भी उससे गिरनेका भय रहता है। धनवान्‌को अपने पुत्रसे भी भय लगता है; फिर राजासे भय हो, इसमें तो कहना ही क्या है! मानमें दीनताका भय बना रहता है तो बलमें रिपुका भय उत्पन्न हो जाता है; बुढ़ापेका भय तो प्रसिद्ध ही है। उस अवस्थामें मनुष्य तीन पगोंसे चलता है—

> लकरी पकरी सुखरी करमें पग पंथ परे न भरे डग री।
> नगरी तनरी झुरियानि परी, अब लूटत है सगरी बगरी॥
> न घरी भर बैठ भज्यो सुहरी जब क्रूर करी जगरी लगरी।
> अब री बिरधापन बात बुरी सु अरी सम लागत है सुत री॥

एक संत कहते हैं—

> जरा कुती जोबन ससो काल अहेरी लार।
> पाव पलकमें मारसी गरब्यो कहा गँवार॥

जरा आनेपर वह बल, वह उत्साह, वह साहस कहाँ गया!

शास्त्रमें वाद-विवादका बड़ा भय रहता है। अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा तो पढ़े-लिखेको ताप भी अधिक होता है। गँवारके केवल आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—ये तीन ताप होते हैं, पर पढ़े-लिखे विद्वान्‌के ताप सात होते हैं—(१) आधिभौतिक, (२) आधिदैविक, (३) आध्यात्मिक, (४) अभ्यास (शास्त्रका अभ्यास), (५) भङ्ग (अपमानका भय), (६) विस्मार (भूल न जाऊँ—इसकी चिन्ता) और (७) गर्व (विद्वत्ताका अभिमान)।

'गुणे खलभयम्'—जहाँ परीक्षक नहीं, गुणी नहीं, गुणग्राही नहीं, वहाँ मूर्खोंमें हमारा मूल्य ही क्या ! एक गवैये थे । वे बड़ी सुन्दर सितार लेकर राजाके पास गये । पर राजा मूर्ख था, संगीतको क्या समझता ! इसपर किसी कविने कहा—

> रे गायक ये गायसुत तू जानत परवीन ।
> ये गाहक कड़वीन के लै लीन्हीं कर बीन ॥

गुण कितने ही हों, पर गुणग्राहक नहीं तो उन्हें कौन लेगा । भर्तृहरि कहते हैं—'हमारे पास बहुत विद्या थी, पर किसीने नहीं ली'—

> बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
> अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥

इसी प्रकार एक कविने कहा है—

> कौन सुनै कासों कहूँ सुने तो समुझै नाहिं ।
> कहना सुनना समझना मन ही का मन माहिं ॥

'काये कृतान्ताद्भयम्'—शरीरके पीछे तो यमराज सदा ताकमें ही रहते हैं कि कब कलेवा करें—

> इस श्वासका मूढ़ विश्वास कहा पल आवत ही रह जावता है ।
> सब पीर पैगम्बर खाक मिले तेरो का अनुमान फुलावता है ॥

बड़े-बड़े राजा-महाराजा हो गये । अब उनके महलोंके टूटे-फूटे खँडहर पड़े हैं । उनको देखनेसे मनमें वैराग्य होता है, जो सर्वथा अभयप्रद है । जिसके हृदयमें वैराग्य है, उसे शरीरके जानेका

भी भय नहीं; फिर नाशवान् पदार्थोंके चले जानेका तो भय ही क्या है। क्योंकि—

> अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
> वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून् ।
> व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
> स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

विषय-पदार्थ चाहे दीर्घ कालतक रहें, पर एक दिन वे अवश्य जानेवाले हैं—चाहे हम उनका त्याग कर दें अथवा वे हमें त्याग दें; उनका विछोह अवश्य होगा। पर संसारी मानव स्वयं उनका त्याग नहीं करते। जब विषय-पदार्थ स्वतन्त्रतासे उनका त्याग करते हैं, तब उनके मनको बड़ा संताप होता है; परंतु यदि वे स्वयं उनका त्याग कर दें तो उन्हें अनन्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

मनसे छोड़ देनेपर ये ही पदार्थ सुख देनेवाले हो जायँगे। जैसे, दस रुपये चोरी चले गये तो दुःख होता है; पर अपनी इच्छासे दान दे दिया तो सुख देता है; किंतु उनसे सम्बन्धविच्छेदमें तो कोई भेद नहीं।

> कहा परदेसीकी प्रीति जावतो वार न लावै।
> आत न देख्यो जात न जाण्यो क्या कहियाँ कणि आवै॥ १॥
> जैसे बास फूलन तें बिछुरे सांझो माहि समावै॥ २॥
> जैसे संग सरायको दिन ऊगे उठि जावै॥ ३॥
> जैमलदास अगम रस घट में, जो खोजै सो पावै॥ ४॥

—जानेवाला हो, उसे एक धक्का अपनी तरफसे दे दे और कह दे कि जा, चला जा तो मौज हो जाय!

एक जाट-दम्पति थे। दोनोंमें खट-पट चला करती। जाटनी बार-बार कहा करती कि 'मैं अब तुम्हारे घर नहीं रहूँगी, चली जाऊँगी।' जाटने सोचा—'नित्य लड़ाई करती है, अन्तमें यह जायगी ही; इज्जत भी लेती जायगी। इससे तो इसे पहले ही त्याग देना अच्छा है।' एक दिन जब रातमें स्त्रीने स्पष्ट कह दिया कि 'कल सवेरे मैं चली ही जाऊँगी,' तब जाटने रातमें अपने कोठेपर खड़े होकर गाँववालोंको जोरसे घोषणा कर दी कि 'अब मुझे कोई उलाहना न देना, मैंने आजसे ही अपनी पत्नीका परित्याग कर दिया है। स्त्री चली नहीं गयी, उसे मैंने निकाल दिया है।' ऐसे ही संसारके समस्त पदार्थ जाटनीकी तरह हैं, अतः इन्हें पहलेसे ही त्याग दें। पदार्थोंको स्वयं त्याग देनेपर ये परम शान्ति देनेवाले हो जाते हैं—

अंतहु तोहि तजैंगे पामर ! तू न तजे अबही ते।

ऐसा विचार करके भर्तृहरि कहते हैं—

अजानन् दाहार्त्तिं पतति शलभस्तीव्रदहने
न मीनोऽपि ज्ञात्वा बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह ! गहनो मोहमहिमा ॥

'पतिंगा इस बातको नहीं जानता कि जलनेपर कैसी पीड़ा होती है, इसीलिये वह प्रचण्ड अग्निमें कूद पड़ता है। मछलीको भी बंसीमें लगा हुआ मांसका टुकड़ा खाते समय पता नहीं रहता कि उसके भीतर लोहेका काँटा है। परन्तु हम तो यह जानते हुए

भी कि विषय-भोग विपत्तिके जालमें फँसानेवाले हैं, उन्हें छोड़ नहीं पाते। अहो! हमारा कितना बड़ा और घना अज्ञान है।'

कई बार पदार्थोंको देखा, अनेक बार भोगोंको भोगकर देखा। फिर भी उनके पीछे पड़े हैं। पतिंगे आदि जानवर तो विषयसङ्गसे एक बार ही मरे, पर हमलोग तो भोगोंको भोगकर बार-बार मर रहे हैं; पर फिर भी चेत नहीं हो रहा है। बार-बार ठोकर लगनेपर भी सँभलनेका नाम नहीं लेते; आखिर कब अक्ल आयगी। बूढ़े हो गये, जीवनका अमूल्य समय चला गया; फिर भी विषयोंकी ओर लोलुपतासे देख रहे हैं! पौत्रका, प्रपौत्रका मुँह देखना चाहते हैं। अरे, धनसे सुख मिलता दीखे तो धनीसे पूछो; स्त्रियोंमें सुखका भ्रम हो तो जिसके दो-तीन स्त्रियाँ हों, उससे पूछो; सामग्रीमें सुख दीखे तो अधिक सामग्रीवालोंसे मिलो। राज्यमें सुख दीखे तो राजाओंसे मिलकर बात कर लो। सुख तो कहीं नहीं मिलेगा; क्योंकि सुख तो केवल चाहके त्याग—वैराग्यसे ही है। कहा है—

> चाह चूहड़ी रामदास सब नीचोंमें नीच।
> तू तो केवल ब्रह्म था चाह न होती बीच॥

पर रागभरी दृष्टिवालोंको कोई वैराग्यवान् दीखता ही नहीं। जहाँ देखो वहाँ रागी-ही-रागी दीखते हैं। बात भी ठीक है, सच्चे वैराग्यवान् हैं ही कम; क्योंकि—

> आदि अविद्या अटपटी घट घट बीच अड़ी।
> कहो कैसे समझाइये कूप भाँग पड़ी॥

बातें बड़ी-बड़ी वैराग्यकी बनाते हैं; पर पदार्थोंको, भोगोंको देखकर जीभ लपलपाने लगती है। गीध बड़ा ऊँचा उड़ता है, पर उसकी दृष्टि नीचे सड़े मांसपर रहती है! यह तो राग ही है!

जो सच्चा वैराग्यवान् होता है, उसकी दृष्टि ही निराली हो जाती है। वैराग्यवान् जिधरसे निकल जाता है, उधर ही बड़ी मस्ती लहराने लगती है। वैराग्यवान् पुरुषकी सुखमयी स्थितिका वर्णन करते हुए भर्तृहरिजी कहते हैं—

> मही रम्या शय्या मज्जुणमुपधानं भुजलता
> वितानश्चाकाशो व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
> स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः
> सुखी शान्तः शेते विगलभवभीतिर्नृप इव॥

'विरतिरूपी कान्ताके प्रसङ्गसे प्रमुदित होकर पृथ्वीकी रमणीय शय्या, अपनी भुजलताका सुन्दर तकिया, आकाशरूपी चँदोवा, पवनरूप अनुकूल पंखा, चन्द्रमारूप सुन्दर दीपक आदि विचित्र सामग्रियोंसे युक्त भवभयसे विमुक्त पुरुष शान्तचित्त होकर राजाकी भाँति सुखसे सोता है।'

वैराग्यवान् पुरुष शहरकी गंदी गलियोंमें विष्ठाके कीड़ोंकी तरह क्यों घूमेगा। एक साधु कहा करते थे कि 'मैं अपने मनको समझाता हूँ कि तू भोजन-वस्त्रादिकी कोई चाहना मत कर; नहीं तो तुझे शहरकी गंदी गलियाँ सूँघनी पड़ेंगी और बार-बार जन्मना-मरना पड़ेगा।' श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—

> पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
> पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

मनुष्य विषयोंकी गंदगीका तनिक-सा विचार कर ले तो उसे उल्टी होने लग जाय।

गंदगीको कीड़ो मूढ़ मानत अनंदगी।
मायाको मजूर बंदो कहा जाने बंदगी॥

विषयलोलुप जीव विषयोंमें रचे-पचे रहकर सुख मानते हैं। ऐसे व्यक्तियोंमें और कीड़ोंमें क्या अन्तर है।

गुल शोर बबूला आग हवा सद कीचड़ पानी मिट्टी है।
हम देख चुके इस दुनियाको, सब धोखेकी-सी टट्टी है॥

× × × ×

दूरहि ते पर्बत दिपै, बेश्या बदन बिभात।
रनका बरनन, रम्य त्रय दूरहि से दरसात॥

पर्वत और वेश्याका मुख दूरसे ही सुन्दर दीखता है तथा दूरसे ही रणका वर्णन रम्य प्रतीत होता है, पर वहाँ पहुँचनेपर अच्छे-अच्छोंके छक्के छूट जाते हैं। इसी तरह वैराग्यवान्की मस्तीका अनुभव विरक्त ही करता है। हम पदार्थोंमें सुख खोजते हैं, पर पदार्थोंमें सुख कहाँ। भगवान् तो इस जगत्को दुःखालय और अशाश्वत बतलाते हैं। जिसमें हमारे बाप-दादोंको भी सुख नहीं मिला, उसमें हमें सुख कैसे मिलेगा? रज्जबजी दूल्हा बने जा रहे थे। रास्तेमें गुरुसे मिलने गये तो गुरुने कहा—

रज्जब तैं गज्जब कियो, माथे बाँध्यो मौर।
आयो थो हरिभजनको, करी नरक महँ ठौर॥

रज्जबजीने कहा—'रज्जब गज्जब जब हुतो, जातो दुनिया साथ।' रज्जबजी ऐसे थे, जिन्हें—

दादूसे सतगुरु मिले, सिष रजवसे जान ।
एकहि सब्द सुलझि गये, रही न खैंचातान ॥

एक ही शब्द काम कर गया ! वैराग्यवान् पुरुषोंको तो देखनेसे ही वैराग्य हो जाता है । वेश्याको दत्तात्रेयजीने कहा कुछ नहीं, उसे उनको देखते ही वैराग्य हो गया ! क्योंकि वैराग्यवान्की मुद्रा ऐसी ही होती है ।

खंडी हंडी हाथ में बंडी-सी कौपीन ।
रंडी द्दिसि देखे नहीं, काया दंडी कीन ॥

वैराग्यकी बातमें भी इतना आनन्द है तो फिर यदि हृदयसे सच्चा वैराग्य हो जाय तब तो आनन्दका कहना ही क्या । सच्चे वैराग्यवान्के सामने बढ़िया वस्त्र पहनकर, इत्र आदि लगाकर एवं श्रृङ्गार करके बैठनेवालेको बैठनेमें भी संकोच होता है । उपर्युक्त प्रकारका वैराग्य विवेक-विचारसे होनेवाला वैराग्य है ।

किंतु साधनसे होनेवाला वैराग्य विचारसे होनेवाले वैराग्यसे भी श्रेष्ठ है । वाणीसे रामनामका जप प्रारम्भ कर दिया—'राम राम राम राम राम' । शरीर रोमाञ्चित और पुलकित हो रहा है तथा हृदयमें लबालब प्रेम भरा है, भगवान्की बात सुनकर ही नाचने लग जाता है । उस हालतमें कभी भूलकर भी पदार्थोंकी ओर मन नहीं जाता, उसे स्वाभाविक ही भोगोंसे वैराग्य रहता है । मन तो भगवान्की ओर ही प्रतिक्षण बरबस खिंचता रहता है । उसके हृदयमें प्रेमानन्द समाता नहीं । वह तो यही कहता रहता है कि 'गिरधारीलाल ! चाकर राखो जी' और वह मीराकी तरह प्रेममें मस्त होकर नाचने लगता है ।

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे ।

मतवाली मीरा प्रेममें मस्त होकर लगी नाचने । कारण क्या ? भजनका रस मिल गया । सांसारिक दृष्टिसे ज्यादा-से-ज्यादा आकर्षक मान-बड़ाई, यश-कीर्ति है; इनकी तो परवा ही क्या हो, उलटी बदनामीसे डर न लगकर वह मीठी लगने लगती है । मीरा कहती है—

या बदनामी लागे मीठी । राणाजी ! म्हाँने या बदनामी लागे मीठी ।
थारे शहरको राणा ! लोक निसाणो, बात करे अणदीठी ॥
हरि मंदिरको नेम हमारे दुरजन लोकां म्हाने दीठी ॥ राणाजी० ॥
साँकड़ी सेरयाँमें म्हारा सतगुरु मिलिया, किस विधि फिरूँ अफूटी ।
म्हारो साँवरियो राणा घट-घट व्यापक, थाँरे हियेरी काँई फूटी ॥
सासु ननद म्हारी देराणी जेठानी जल जल हो गयी अँगीठी ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर चढ़ गयो चोल मजीठी ॥ राणाजी० ॥

इस प्रकार साधन-भजन करनेपर जो वैराग्य होता है, उससे पदार्थोंमें राग अपने-आप अनायास मिट जाता है । भजनानन्दीको पदार्थोंसे अरुचि करनी नहीं पड़ती । उसका मन तो भगवान्‌में सहज ही संलग्न हो जाता है । यदि कहें कि हमलोगोंका मन हर जगह जाता है, तो ठीक है; हर जगह जाता है पर भगवान्‌पर नहीं जाता । और अगर भगवान्‌पर चला जाय तो फिर लौटकर संसारमें आयेगा नहीं । मक्खी सब जगह जाकर बैठती है, पर आगपर नहीं । वह आगपर बैठती ही नहीं; पर यदि आगपर बैठ जाय तो फिर उठती ही नहीं, इसी प्रकार भगवान्‌में मन लग जानेपर फिर कहीं नहीं जाता, तद्रूप हो जाता है ! अतः संसारसे वैराग्य और

भगवान्में प्रेम होनेके लिये हम लोगोंको बड़ी तेजीसे भगवान्का भजन करना चाहिये—

> कहै दास सगराम बड़गड़ै घालो घोड़ा ।
> भजन करो भरपूर रया दिन बाकी थोड़ा ॥
> थोड़ा दिन बाकी रया कद पहुँचोला ठेट ।
> अधबिचमें वासो बसो तो पड़सो किणरे पेट ॥
> पड़सो किणरे पेट पड़ैला भारी फोड़ा ।
> कहै दास सगराम बड़गड़ै घालो घोड़ा ॥

एक भक्तदम्पति थे। पति-पत्नी दोनों ही बड़े भजनानन्दी थे। उनके भजन करनेका तरीका यह था कि वे अपने पासमें कुछ उड़द रख लेते और एक माला फेरनेपर एक उड़द उठाकर रख देते। इस प्रकार सेर, डेढ़ सेर तथा दो-दो, तीन-तीन सेरतक उड़द समाप्त हो जाते। पति कहता कि मैं आध सेर भजन करूँगा तो पत्नी कहती, मैं एक सेर करूँगी। परस्पर होड़ लग जाती। हमें भी इसी प्रकार तेजीसे भजन करना चाहिये। भजन करते-करते क्या स्थिति होती है, इसपर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

'मेरा नाम-गुण-कीर्तन करते समय जिसका गला भर आता

---

१. बड़गड़ै=तेजीसे।

है, हृदय द्रवित हो जाता है, जो बार-बार मेरे प्रेममें आँसू डालता है, कभी हँसने लगता है, कभी लाज-शर्म छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और नाचने लगता है, ऐसा मेरा भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है।'

इसी प्रकार रामगीतामें भी कहा है—

> यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
> हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
> सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
> पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥

'जो मेरे निर्गुण-स्वरूपकी मनसे उपासना करता है अथवा कभी-कभी मायिक गुणोंसे अतीत मेरे सगुणस्वरूपकी भी सेवा-अर्चा करता है, वह मेरा ही स्वरूप है। वह अपनी चरण-रजके स्पर्शसे सूर्यकी भाँति तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।'

ऐसे भगवान्‌के प्यारे भक्त भगवान्‌की स्मृतिमें आनन्द-विभोर होकर घूमते हैं तो उनके दर्शनसे ही वैराग्य हो जाता है। जिस गलीमें होकर वे निकल जायँ, उधर ही वैराग्य और भगवत्प्रेमकी गङ्गा बह जाय। सुतीक्ष्ण-जैसे भक्तोंकी स्मृति हो जाय तो वैराग्य हो जाय। भगवान् भी तरु-ओटसे छिपकर देखते हैं। क्यों? अपने ध्यानमें निमग्न भक्तको देखकर वे भी मस्त हो गये और छिपकर देखने लगे।

साधन करनेसे अन्तःकरण निर्मल होता है। फिर उससे वैराग्य होता है। इस प्रकारका वैराग्य विचारसे होनेवाले वैराग्यसे भी ऊँचा है।

परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर होनेवाला वैराग्य बहुत ही अलौकिक है, उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता; उसे न तो राग कह सकते हैं न वैराग्य ही। ऐसा विलक्षण वैराग्य परमात्मप्राप्त महापुरुषोंका ही होता है। अलौकिकके कभी कैसे ही कितने ही भोग क्यों न प्राप्त हों, उनके अन्तःकरणमें रागकी, गन्धकी भी कभी जागृति होनेकी सम्भावना नहीं रहती; क्योंकि जब एक परमात्मतत्त्वके सिवा अन्य सत्ता ही मिट जाती है, तब किसके प्रति राग हो। पदार्थोंमें सत्ता न रहनेके कारण उनको परमात्मतत्त्वके सिवा कहीं रस या सार कुछ भी प्रतीत नहीं होता। उनके अन्तःकरणमें अन्तःकरणसहित संसारका मृगतृष्णा-जलकी भाँति तथा नींदसे जगनेपर स्वप्नकी भाँति अत्यन्त अभाव और परमात्मतत्त्वका भाव नित्य-निरन्तर दृढ़ताके साथ स्वाभाविक ही बना रहता है। फिर परमात्मतत्त्वके सिवा कुछ रहता ही नहीं।

उक्त अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त करनेके लिये वैराग्यवान् पुरुषों और भगवत्प्राप्त पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। उनके शब्दोंसे, उनकी क्रियाओंसे शिक्षा लेकर हमें तेजीसे चलना चाहिये। संसारके पदार्थोंमें कभी किसीको सुख हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। ऐसा विचार कर भक्तिमार्गीको भगवान्‌में मन लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा ज्ञानमार्गीको चित्तसे पदार्थोंकी सत्ताको मिटाकर एक सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही है—ऐसा दृढ़ निश्चय निरन्तर रखना चाहिये।

गीतामें भक्ति और उसके अधिकारी

श्रीमद्भगवद्गीताकी महिमा अपार है। यह श्रीभगवान्‌की दिव्य वाणी है, इसके रचयिता स्वयं भगवान् वेदव्यास हैं। सर्वविघ्न-विनाशक श्रीगणेशजी इसके लेखक हैं। सभी सम्प्रदायोंके प्रमुख आचार्योंने इसपर भाष्य लिखे हैं। इस ग्रन्थरत्नपर टीका लिखनेवाले अच्छे-अच्छे त्यागी तथा बहुत-से महात्मा पुरुष हो चुके हैं। अच्छे-अच्छे दिग्विजयी पण्डितोंने भी उसपर अपने भाव व्यक्त किये हैं। इतना ही नहीं, हिंदूधर्मको न माननेवाले विदेशी सज्जनोंने भी इसपर बहुत कुछ लिखा है। संसारमें श्रीमद्भगवद्गीतापर जितने भाष्य, टीकाएँ, लेख, समालोचनाएँ, प्रश्नोत्तर और विचार किये गये हैं; उतनी टीकाएँ और उतने विवेचन पृथ्वीमण्डलके अन्य किसी भी ग्रन्थपर नहीं हुए हैं। हाँ, बाइबलपर बहुत-से अनुवाद मिलते हैं और अब भी होते जा रहे हैं; परंतु उसके इतने विस्तारका प्रधान कारण राजसत्ता तथा धनकी अधिकता ही है। श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें यह बात नहीं है। यह जड राज्य और ऐश्वर्यकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखती। इसमें तो ऐसी अलौकिक तथा विलक्षण शक्ति संनिहित है, जिससे यह जिस विचारशील विद्वान्‌के हाथों पड़ी, वही इसपर लिखनेके लिये बाध्य हो गया। अर्थात् उसने बड़े प्रेम और आदरसे इसपर कुछ लिखकर अपनेको धन्य समझा और अपनी लेखनीको पवित्र किया।

ऐसे अलौकिक ग्रन्थपर मेरे-जैसे एक साधारण व्यक्तिका कुछ कहना अथवा लिखना दुस्साहसमात्र है; परंतु इसी बहाने पतित-पावन भगवान्‌के पवित्रतम वाक्योंके यत्किञ्चित् मनन तथा अनुशीलनका अवसर मिल जाय, इस उद्देश्यसे यह बालचपलता की जाती है। विज्ञजन मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, भक्ति और ज्ञानकी त्रिवेणी लहरा रही है। इसके पद-पदमें अलौकिक अर्थ भरे हैं, जो पुरुष इस भगवन्मय ग्रन्थरत्नको जिस दृष्टिसे देखता है, उसको यह वैसा ही दृष्टिगोचर होता है। यथा—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

भगवद्विग्रहकी भाँति भगवद्वाणीकी भी यही बात है। कर्मप्रधान साधनवाले मनुष्योंको यह ग्रन्थ कर्मप्रधान ही प्रतीत होता है। इसमें आदिसे अन्ततक केवल कर्तव्य-कर्म करनेपर ही जोर दिया मालूम देता है। यदि कहीं भक्ति और ज्ञानका वर्णन है, तो वह गौण और कर्मोंका पोषक ही है। और यह बात युक्तिसंगत भी दीखती है। यहाँ युद्धस्थलमें कर्मशील अर्जुन तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके द्वारा कर्मका विवेचन होना ही प्रासङ्गिक जान पड़ता है।

भक्तिके पूज्यतम आचार्योंका कहना है कि भगवद्गीतामें केवल भक्तिका ही वर्णन है। कर्म और ज्ञान-दोनों इस भक्तिके ही सहायक हैं। ग्रन्थके आदि और अन्तपर विचार करनेसे इसी बातकी पुष्टि होती है। दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन जब

शिष्यभावसे भगवान्‌के प्रपन्न (शरणागत) होकर उनसे श्रेयके लिये प्रार्थना करते हैं, तब भगवान् उनकी शङ्काओंका समाधान करके अन्तमें सर्वगुह्यतम उपदेश देते हुए कहते हैं कि 'तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। मैं सब पापोंसे तुझे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' (१८। ६६) इससे यह ग्रन्थ भगवद्भक्ति-प्रधान ही सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अद्वैत-सिद्धान्तके आदरणीय आचार्यचरणोंका कथन है कि इसमें सिद्धान्तरूपसे केवल ज्ञानका ही विवेचन किया गया है। कर्म और भक्तिका वर्णन तो मल और विक्षेपरूप अन्तःकरणके दोषोंको दूर कर ज्ञानका अधिकारी बनानेके लिये ही हुआ है। यह भी युक्तिसंगत और शास्त्रसम्मत भी है। भगवान्‌ने उपदेशका आरम्भ भी ज्ञानसे ही किया है (गीता २। ११)। ज्ञानकी महिमा भी विशेषतासे कही है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (गीता ४। ३८)

ऐसी सर्वतोभद्र अलौकिक श्रीमद्भगवद्गीताका वास्तविक आशय एकमात्र भगवान् ही जानते हैं। एक मनुष्य जो नाप और तौलमें आ जाता है, उसके भी भावोंका अन्त पाना कठिन हो जाता है; फिर भगवान् तो अनन्त, अपार और असीम हैं। अतः उनके भावोंका थाह कोई कैसे पा सकता है। तथापि—'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥' इस उक्तिके अनुसार कुछ निवेदन किया जाता है। गीताका निष्पक्षभावसे विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका पूर्णरूपेण विशद वर्णन किया गया है; कोई भी विषय अधूरा नहीं रहा है।

श्रीगीताका अध्ययन करनेवाले जिज्ञासु या तत्त्वालोचक विद्वान्‌के लिये इस बातपर ध्यान देनेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत होती है कि वह अपनेको किसी मतमें ढालकर उसी दृष्टिसे गीताको न देखे—गीताका अर्थ अपने मतके अनुसार लगानेकी चेष्टा न करे, अपितु अपनेको गीताका अनुवर्ती बनानेके लिये उसके मूल श्लोकों तथा भावोंका मनन करे। गीतामें जैसा लिखा है, उसके अनुसार साधनात्मक विचार करते हुए परमात्माकी ओर अग्रसर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसके भावोंको समझनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजी महाराजके अनन्यशरण होकर ऐसा विश्वास निरन्तर बढ़ाता रहे कि अपने दिव्य वाणीका यथार्थ भाव भगवान् मुझे अवश्य समझायेंगे तो वह अपने लिये परमोपयोगी भावोंको समझ सकेगा।

युद्धारम्भके समय अपने स्वजन-बान्धवोंके नाशकी आशङ्कासे व्याकुल हुए अर्जुन भगवान्‌की शरणमें जाते हैं और उनसे प्रेय—लौकिक उन्नति नहीं, अपितु अपने निश्चित श्रेय—कल्याणकी ही बात पूछते हैं—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (२।७), 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३।२); 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' (५।१)। तब भगवान् सम्पूर्ण वेद और उपनिषद् आदिमें बताये हुए समस्त कल्याणमय साधनोंका सार श्रीगीताके रूपमें कहते हैं। सच्ची बात तो यह है कि जो भगवान् कहते हैं, वही सबका सार है। वेद-शास्त्रोंको आदर देनेके लिये ही भगवान्‌ने वेद, शास्त्रों तथा उपनिषदोंका प्रमाण दिया है (१३।४)। श्रीभगवान्‌ने उन शास्त्रोक्त साधनोंमें जो कुछ कमी दीखती थी, उसे पूरा किया, उनमें जो परस्पर विरोध प्रतीत होता था उसका

निराकरण किया और उन सिद्धान्तोंका परिमार्जन करके थोड़े शब्दोंमें उन्हें विस्तारपूर्वक बार-बार समझाया। एक ही बातको अनेक युक्तियोंसे समझानेपर भी विशेषता यह है कि पुनरुक्तिका दोष नहीं आया और थोड़े शब्दोंमें कहनेपर भी कमी नहीं रही। कहीं-कहीं श्लोकार्द्धोंकी पुनरुक्ति अवश्य आती है, किंतु वह सहेतुक है। विचार करनेपर वहाँ बड़ी विलक्षणता जान पड़ती है।

कल्याणकारी शास्त्रों तथा सम्प्रदायाचार्योंके सिद्धान्तोंमें अनेक मतभेद हैं——अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि। इन सबका अन्तर्भाव अद्वैत और द्वैतमें ही किया जा सकता है। इन दोका ही वर्णन भगवान्‌ने सांख्य और योगनिष्ठाके नामसे किया है। इन दोनोंको अभेद और भेदमार्ग भी कह सकते हैं। सांख्यनिष्ठामें आत्मा और परमात्माका अभेद मानकर साधन किया जाता है। वह इस लेखका विषय न होनेसे उसे छोड़कर योगनिष्ठाका ही वर्णन किया जाता है; क्योंकि भक्ति योगनिष्ठाके ही अन्तर्गत है। भगवदाज्ञानुसार फल और आसक्तिको त्यागकर अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन करना योगनिष्ठा है। योगनिष्ठा तीन प्रकारकी होती है——

(१) कर्मप्रधान, (२) भक्तिमिश्रित तथा (३) भक्तिप्रधान।

इन तीनोंमें भगवान्‌ने भक्तिप्रधान कर्मनिष्ठाकी ही अधिक प्रशंसा की है और स्पष्ट शब्दोंमें यह घोषित किया कि सब प्रकारके योगियोंमें मद्गतचित्त होकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करनेवाला सर्वश्रेष्ठ——युक्ततम है (६। ४७)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने व्यवहारमें परमार्थ-सिद्धिरूप

विलक्षण कला दिखलायी है, जिससे हर एक वर्ण और हर एक आश्रमका मनुष्य भगवान्‌के शरण होकर शीघ्रातिशीघ्र सुगमतापूर्वक उन्हें प्राप्त कर सकता है। उस शरणागतिका ही भगवान्‌ने भगवद्-भक्ति, भगवद्-आश्रय आदि शब्दोंसे वर्णन किया है। कहीं शरणागति कहकर आगे 'भक्ति' शब्द दे दिया है (९ । ३२-३३-३४); कहीं भक्ति कहकर उसे शरणागति कह दिया है (११ । ५४-५५)। इससे मालूम होता है कि शरणागति और भक्तिमें अन्तर नहीं है।

सम्पूर्ण गीताको छः-छः अध्यायोंके तीन षट्कोंमें विभक्त किया जा सकता है, जिनमें पहलेसे छठे अध्यायतक कर्मका, सातवेंसे बारहवें अध्यायतक उपासनाका और तेरहवेंसे अठारहवें अध्यायतक ज्ञानका वर्णन किया गया है। पहले षट्कमें जितने विस्तारके साथ कर्मकाण्डका वर्णन है, उतना दूसरे और तीसरे षट्कोंमें नहीं है। दूसरे षट्कमें जितना उपासनाका वर्णन किया गया है, उतना प्रथम और तृतीय षट्कमें नहीं और तीसरे षट्कमें ज्ञानका जितना विस्तृत वर्णन देखा जाता है, उतना प्रथम और द्वितीय षट्कमें नहीं। इसलिये पहले षट्कको कर्म-काण्डपरक, दूसरे-को उपासना-काण्डपरक तथा तीसरेको ज्ञान-काण्डपरक कहा जा सकता है; परंतु दूसरे षट्कमें अर्थात् सातवेंसे बारहवें अध्याय-तक भगवान्‌ने ऐसी विलक्षणताके साथ भक्तिका वर्णन किया है, जिससे ज्ञान और कर्मका उतना सम्मिश्रण नहीं होने पाया है जितना कि पहले षट्कमें कर्मका निरूपण करते हुए भी ज्ञान और भक्तिका हो गया है। तीसरे षट्कमें तो ज्ञानका वर्णन करते हुए पहले षट्ककी अपेक्षा भी कर्म और भक्तिका अधिक मिश्रण हुआ है।

जैसे तेरहवें और चौदहवेंमें ज्ञानका तथा पंद्रहवें अध्यायमें भक्तिका वर्णन करके सोलहवेंमें दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिका अर्थात् भक्तिके अधिकारी और अनधिकारियोंका वर्णन करते हुए १७ वें अध्यायमें तीन प्रकारकी श्रद्धाका विवेचन किया गया है, जो श्रद्धा कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनोंमें ही आवश्यक होती है । अठारहवें अध्यायमें कर्म, भक्ति और ज्ञान—तीनोंका विशुद्ध विवेचन है और अन्तमें भक्तिसे ही ग्रन्थका उपसंहार किया गया है। उपदेशका आरम्भ भी अर्जुनके शरणागत होनेपर ही हुआ है। इसलिये आदि और अन्तमें भी भक्तिकी ही पावन मन्दाकिनी प्रवाहित होती दिखायी देती है ।

ऐसे ही भगवद्गीताके मध्यमें भी सारभूत होनेसे भक्तिका वर्णन है, मध्यम भाग नवाँ और दसवाँ अध्याय होता है, इसलिये भगवान्‌ने उसमें अत्यन्त गोपनीय रहस्यका वर्णन करनेके कारण ही नवें अध्यायका 'राजविद्याराजगुह्ययोग' और दसवेंका 'विभूतियोग' नाम दिया है । भगवद्गीतामें जहाँ कहीं भी गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम, राजगुह्य, सर्वगुह्यतम और रहस्य आदि शब्द आये हैं, वहाँ भगवान्‌ने सगुण-तत्त्वकी ओर ही निर्देश किया है; क्योंकि स्वयं भगवान् होते हुए अपनेको छिपाकर मनुष्यके रूपमें लीला कर रहे हैं, यह गुप्त रहस्यकी बात है ।

दसवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन किया है। इसलिये उसका नाम 'विभूतियोग' है। वे विभूतियाँ सगुण-तत्त्वकी ही हो सकती हैं। उक्त दोनों अध्यायोंमें जो नवेंका

अन्तिम और दसवेंका आदि भाग है, यही गीताके मध्यमें पड़ता है। इसलिये इसको गीताका 'हृदय' कह सकते हैं। नवें अध्यायके आदिमें भगवान् विज्ञानसहित ज्ञान कहनेकी प्रतिज्ञा करके चौथे पाँचवें, छठे श्लोकोंमें उदाहरणसहित राजविद्याका वर्णन करते हैं। उसके बाद अपनेसे संसारकी उत्पत्ति-प्रलयका प्रकरण बतलाकर अपनेको साधारण मनुष्य मानकर अवज्ञा करनेवालोंकी निन्दा करते हैं (९ । ११) और कहते हैं कि जो महात्मा हमें सम्पूर्ण भूतोंका अविनाशी कारण मानकर अनन्यभावसे भजन करते हैं (९ । १३) ऐसे भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं ही वहन करता हूँ (९ । २२)। यद्यपि अन्य देवता भी भगवान्‌के अतिरिक्त कुछ भी न होनेके कारण अन्य देवताओंकी भक्ति भी प्रकारान्तरसे भगवान्‌की ही भक्ति मानी जा सकती है परंतु उनको भगवत्स्वरूप न समझनेके कारण वह विधिपूर्वक यथार्थ भक्ति नहीं है। शास्त्रोंमें जिन-जिन देवताओंकी पूजाके लिये पूजा-पद्धति, मन्त्र, सामग्री आदिका जो-जो विधान है, उसके अनुसार यथार्थ रीतिसे पूजा करनेपर बड़े-से-बड़ा फल उन देवताओंके लोकोंकी प्राप्ति ही है, भगवान्‌की प्राप्ति नहीं। किंतु यथार्थ भक्तिसे तो भगवान् भी सुलभ हो जाते हैं (८ । १४)। भगवान्‌के पूजनमें उतनी विधि, मन्त्र और सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है; वहाँ तो एकमात्र भावकी ही प्रधानता है। कितनी सुगमता है! भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

(९ । २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने पत्र-पुष्पादिका नाम लेकर 'भक्ति' शब्दका दो बार प्रयोग किया है। इसके द्वारा भगवान् यह व्यक्त करते हैं कि मुझे विविध सामग्रियोंकी आवश्यकता नहीं है। अनायास ही जो कुछ भी भक्तको मिल जाय, वही भक्तिपूर्वक सच्चे हृदयसे अर्पण कर देनेसे मैं संतुष्ट हो जाता हूँ। जैसे द्रौपदीके दिये हुए शाक-पत्रसे भगवान् प्रसन्न हो गये। गजेन्द्रके अर्पण किये हुए पुष्पको लेनेके लिये वैकुण्ठसे दौड़े हुए आये। शबरीके प्रेमपूर्वक परोसे हुए फलोंके समान मधुरताका अनुभव भगवान्‌ने और कहीं किया ही नहीं तथा महाराज रन्तिदेवके जलमात्रसे तृप्त होकर उनका कल्याण कर दिया। इन पत्र, पुष्प, फल तथा जलको स्वीकार करनेमें भक्तोंके सच्चे हृदयकी विकलता और अनन्य प्रेम ही प्रधान कारण थे। भगवान् इसी प्रेमके वशीभूत होकर पत्र-पुष्पको भी (जो खानेकी चीज नहीं है) खाते हैं। वे स्वयं कहते हैं—'अश्नामि' अर्थात् मैं खाता हूँ। प्रिय भक्तवर अर्जुनके लिये तो पत्र-पुष्पादि सामग्रीकी भी आवश्यकता न रखते हुए वे कहते हैं—'भैया कुन्तीनन्दन! तुम स्वाभाविक ही जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो होम करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, वह सब मुझे समर्पण कर दो' (९। २७)। इस प्रकार समर्पण कर देनेसे शुभाशुभ दोनों प्रकारके फलोंसे तुम मुक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे (९। २८)।

यहाँ यह शङ्का होती है कि भगवान्‌में विषमता है क्या ? जो वे सर्वस्व समर्पण करनेवालेका ही उद्धार करते हैं, अन्यका नहीं ! इसका समाधान स्वयं भगवान् ही करते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥
(९ । २९)

अर्थात् 'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ; न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है। परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने प्राणिमात्रमें अपनी समताका निर्देश किया है। 'मैं प्राणिमात्रमें सम हूँ ।' अर्थात् समान रूपसे व्यापक सबका परम सुहृद् और पक्षपातरहित हूँ। कोई भी प्राणी मेरा प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है । इस भूतसमुदायमेंसे जो कोई भी जीव प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे मुझमें और मैं उनमें हूँ । अर्थात् वे मेरे प्रियतम हैं, मैं उनका प्रियतम हूँ । वे मुझे सर्वस्व समर्पण कर देते हैं और मैं भी अपना सर्वस्व तथा अपने आपको भी उनपर निछावर कर देता हूँ । मेरी-उनकी इतनी घनिष्ठता है कि मैं और वे दोनों ही एक हो जाते हैं ।

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ।' 'यतस्तदीयाः ।'
(नारदभक्तिसूत्र ४१, ७३)

'वे मुझे स्वामी समझते हैं, उन्हें मैं सेवक समझता हूँ । वे मुझे पिता समझते हैं तो मैं उन्हें पुत्र समझता हूँ । पुत्र माननेवालोंको पिता, मित्र समझनेवालोंको मित्र और प्रियतम समझनेवालेको प्रियतम समझता

हूँ। जो मेरे लिये व्याकुल होते हैं, उनके लिये मैं भी अधीर हो उठता हूँ। जो मेरे बिना नहीं रह सकते, उनके बिना मैं भी नहीं रह सकता। जो जिस भावसे मुझे भजते हैं मैं भी उसी भावसे उनको भजता हूँ।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(४। ११)

भाव ही नहीं क्रियामें भी जो मेरी ओर तेजीसे दौड़ते हैं, मैं भी उनकी ओर तीव्र गतिसे दौड़ता हूँ। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अल्पशक्तिमान् जीवकी क्रिया अपनी शक्तिके अनुसार होगी और अनन्तशक्तिसम्पन्न परमात्माकी उनकी शक्तिके अनुसार। अर्थात् अल्प शक्ति रखनेवाला जीव यदि अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुछ भी आगे बढ़ा तो भगवान् भी अपनी पूरी शक्ति लगा शीघ्र ही उससे आ मिलेंगे। भगवान्‌को पूरी शक्तिसे अपनी ओर आकर्षित करनेका सरल उपाय है—उनकी ओर अपनी पूरी शक्तिसे अग्रसर होना। भक्तोंका ऐसा विलक्षण भाव है कि वे चेष्टारहित परमात्मासे भी चेष्टा करवा देते हैं। सर्वदेशी व्यापक और निराकार परमेश्वरको एक देशमें प्रकट करके देख लेते हैं। निर्गुणको सगुणरूपमें प्रकट होनेके लिये बाध्य कर देते हैं। जो सबसे सर्वथा उदासीन हैं, उन परमात्माको भी वे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। वे प्रभुके प्यारे भक्त जिस समय जैसे रूपमें उन्हें देखना चाहते हैं, उस समय भगवान्‌को उसी रूपमें दर्शन देना पड़ता है। कैमरेका काँच जैसे सामने दीखनेवाले रूपको खींच लेता है, उससे अत्यन्त अधिक विलक्षणताके साथ भगवान्‌को खींचनेका आकर्षण भगवद्भक्तके

प्रेममें होता है। कैमरा तो सामनेकी जड वस्तुकी उस आकृतिमात्रको ही खींचता है, परंतु भगवद्भक्तका प्रेम चिन्मय परमात्माको अपने मनचाहे रूपमें खींच लेता है। इसलिये भगवान् कहते हैं —

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(९।४।६८)

'साधुओंका मैं हृदय हूँ और संतलोग मेरे हृदय हैं। वे मेरे सिवा और किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको कुछ भी नहीं जानता।'

भगवान्‌को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतनी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मी, गरुड़ आदि पार्षद और अपना शरीर भी प्रिय नहीं है। भागवतमें भगवान् उद्धवसे कहते हैं—यदि भक्तोंके प्रतिकूल मेरी भुजा भी उठे तो उसे काटकर फेंक दूँ—

छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्।

भक्त नीच घरका हो तो भी भगवान् उसके यहाँ पधारते हैं!

यहाँ एक शङ्का होती है कि जब भजनेवालेको ही भगवान् भजते हैं—जो जिस भावसे भजता है, उसे उसी भावसे वे भी भजते हैं—तब जो भगवान्‌की आज्ञाके सर्वथा विरुद्ध चलनेवाला, भगवान्‌का विरोध करनेवाला, भगवान्‌के द्वारा निषेध किये हुए कर्मोंको आसक्तिपूर्वक करनेवाला अर्थात् भगवान्‌का सर्वथा विरोधी हो, वह

यदि भजन करे तो क्या भगवान् उसे भी अपनाते हैं ? इसका उत्तर है —'अवश्य !'

> अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
>
> (९ । ३०)

अर्थात् 'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझे निरन्तर भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।'

यहाँ भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि चाहे दुराचारी-से-दुराचारी भी हो, परंतु जो अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर भजन करता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने उत्तम निश्चय कर लिया है । दुराचारी चाहे इस जन्मका हो चाहे पूर्वजन्मका, भक्तके उस पाप और दुराचारको भगवान् नष्ट कर देते हैं । भगवान् रामायणमें कहते हैं—

> कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥

करोड़ों ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाला भी यदि शरणमें आ जाय तो भगवान् उसके पापको नष्ट कर देते हैं । एक जन्मके नहीं, अनेकों जन्मोंके पापका भी नाश कर देते हैं ।

> सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥

जीव जभी मेरे सम्मुख होता है, तभी उसके अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं । इतना ही नहीं, शरणमें आ जानेपर उसे साधु ही मानना चाहिये । यहाँ यह प्रश्न होता है कि गीता ७ । १५ में

भगवान् कहते हैं, नराधम (दुष्कृत पुरुष) मेरे शरण नहीं होते। और रामायणमें भी कहा है—

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥

तब अत्यन्त पापी भगवान्की ओर लगेगा ही कैसे ? तभी तो भगवान्ने 'चेत्' शब्द कहा है। भगवान्के कानूनमें एक विलक्षणता है, वह समझनेकी है। भगवान् कहते हैं—'यदि वह भक्तिमें लग जाय तो मेरी ओरसे बाधा नहीं है, नीच-से-नीचके लिये उत्थानका दरवाजा खुला है। परंतु भक्तका पतन नहीं हो सकता—'न मे भक्तः प्रणश्यति' (९ । ३१)। भगवान्के पथमें चलनेके लिये किसी भी प्राणीको रोक-टोक नहीं है। उनके यहाँ उन्नतिके लिये कोई बाधा नहीं है। फिर प्रश्न होता है कि पापी मनुष्य भगवान्का अनन्य भावसे किस कारण भजन करेगा ? उसमें कई कारण हो सकते हैं। यथा—

(१) पूर्व जन्मकी भक्तिके संस्कारसे।

(२) भगवद्भक्तिमय वायुमण्डलके प्रभावसे।

(३) भगवद्भक्तोंके अलौकिक अनुग्रहसे।

(४) भगवान्की अचिन्त्य अहैतुकी कृपासे या

(५) किसी आपत्तिमें पड़ जानेपर उस आपत्तिको दूर करनेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ समझनेके कारण भगवान्के प्रति भक्तिका उदय हो जानेसे।

इस तरह और भी किसी कारणविशेषसे वह अनन्यभाक् होकर भजन कर सकता है। 'अनन्यभाक्'का अर्थ यहाँ तैल-धारावत् निरन्तर चिन्तन नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अधिकारी-

की तरफ भी तो देखना होगा। तैलधारावत् चिन्तनमें तो बहुत समयसे साधन करनेवाले साधकोंको भी कठिनाई प्रतीत होती है, फिर सुदुराचारियोंके द्वारा वह ऐसा क्योंकर सम्भव है। अतः अनन्य-भाक्का अर्थ यहाँ एक भगवान्का ही हो जाना है 'न अन्यं भजतीति अनन्यभाक्।' उसके इष्ट, प्रापणीय एकमात्र भगवान् ही हो जायँ, वह भगवान्के ही शरणागत हो जाय—यही अनन्यभाक्का तात्पर्य है। वह भगवान्के सिवा और किसीका आश्रय नहीं लेता। एकके आश्रित हो जाना, एकको ही सर्वोपरि समझना सुदुराचारीके द्वारा ही सम्भव हो सकता है। जो ऐसा हो जाता है, उसको भगवान् परमप्रिय मानते हैं—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

यहाँ 'गति न आन की' इन पदोंके द्वारा अनन्यभाक्की ही व्याख्या हुई। दूसरेका आश्रय छोड़कर भगवान्का भजन करनेवालेको ही लक्ष्य किया गया है। ऐसे पुरुषको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥

उसने अब एकमात्र यही निश्चय कर लिया है कि 'मैं जो कुछ और जैसा भी हूँ, आपका हूँ।' वह समझता है कि मेरा उद्धार मेरे साधन और भजनके बलसे नहीं हो सकता; अपितु अशरण-शरण दीनबन्धु भगवान्की अहैतुकी कृपासे ही सम्भव है। मुझ-जैसा पामर एक साधारण जीव भगवान्के अनुकूल साधन क्या कर सकता है। यत्किञ्चित् भगवान्के अनुकूल जो साधन बन जाता है वह भी भगवान्की कृपाका ही फल है। जो कुछ बनेगा, वह प्रभु-

की हो दयासे। ऐसा उसका अटल निश्चय है। इसीसे तो एक भक्त कहता है—

> भगत बछल व्रत समुझिके रज्जब दीन्हों रोय।
> पतिताँ पावन जब सुने, रह्यो न चीतो सोय॥

इसी कारण भगवान् कहते हैं—वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा बन जाता है। तात्पर्य यह कि जब वह भगवान्की ओर ही चलनेका दृढ़ निश्चय कर लेता है, तब उसके आचरण और भाव बहुत जल्दी सुधर जाते हैं। जब उसके ध्येय एकमात्र परमात्मा हो गये, तब वह दुर्गुणका आश्रय कैसे ले सकता है, भगवत्-प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता है। ज्यों-ज्यों भगवान्के अनन्य आश्रित होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें सद्गुण-सदाचारकी स्वाभाविक वृद्धि होती जाती है! जब सब प्रकारसे वह प्रभुके आश्रित हो जाता है, तब उसी क्षण धर्मात्मा बन जाता है। केवल धर्मात्मा ही नहीं होता, उसे अविचल शान्ति भी प्राप्त हो जाती है। अर्थात् जिस सुख-शान्तिमें क्षय आदि विकार और दोष नहीं आते, उसी शान्तिको वह प्राप्त हो जाता है।

> **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
> **कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**
>
> (गीता ९। ३१)

'इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

निरन्तर रहनेवाली शान्ति क्या है? जिसे गीतामें परमपद,

ब्रह्मनिर्वाण, निर्वाण, परम शान्ति, आत्यन्तिक सुख आदि नामोंसे कहा गया है, उसीको शाश्वत शान्ति कहते हैं। यही सब साधनोंका अन्तिम फल है। इसे ही शास्त्रकारोंने मुक्ति कहा है। यह सर्वोपरि स्थिति है। इसीके लिये भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६ । २२)

'जिसे पा जानेपर उससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं जान पड़ता तथा जिस स्थितिमें स्थित हो जानेपर मनुष्यको कोई भारी दुःख कभी विचलित नहीं कर सकता।' तात्पर्य यह कि जिसमें दुःख, अल्पज्ञता, अशान्ति, असहिष्णुता आदि कोई भी दोष नहीं है, ऐसी परम शान्तिमयी अवस्थाको वह प्राप्त हो जाता है।

अहा! भगवान्‌की कितनी अलौकिक कृपा है।

'बिनु सेवा जो द्रवहिं दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥'

'दुराचारी भी यदि भगवान्‌का भजन करने लगे तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है। भगवान्‌ने दुराचारीकी बात तो कही; अब जो पूर्वजन्मके अनुचित आचरणके कारण नीच योनिमें जन्म लेते हैं; वे भी भक्तिके अधिकारी हैं, यह बात भी भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९ । ३२)

'पापयोनिवाले जीव भी मेरा आश्रय लेकर परमपदको प्राप्त होते हैं; स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परमपदको जाते हैं।' जो जाति-

बहिष्कृत है, जिसको स्पर्श करनेमें भी लोगोंको हिचक होती है, ऐसे पुरुषको भी यदि वह भक्त है तो भगवान् परमप्रिय मानते हैं। रामावतारमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी गुहको हृदयसे लगाकर भेंटते हैं और पूज्य वशिष्ठजी भी रामभक्त समझकर उसे हृदयसे लगाते हैं। भरतजी भी लक्ष्मणकी तरह उसे भेंटते हैं। भक्त तो त्रिभुवनको पवित्र करनेवाला होता है।

शास्त्रपरम्परासे अहिंसादि सामान्य धर्मोंकी भाँति भक्तिमें भी चाण्डालादि सभी योनिके मनुष्योंका अधिकार है।

'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ।'

(शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ७८)

भगवद्भक्तिके अधिकारी नीच-से-नीच व्यक्ति भी हैं। यहाँ 'पापयोनि' शब्द इतना व्यापक है कि आभीर, यवन, कङ्क, खशादि जातिके मनुष्य भी इसीके अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। चारों वर्णोंके सिवा जितनी योनियाँ हैं, सब पापयोनि ही हैं।

'बड़सेयाँ बड़ होत हैं' उक्तिके अनुसार बड़ोंका आश्रय पाकर प्रायः सभी बड़े हो जाते हैं। छोटा-सा जन्तु भी यदि सज्जन पुरुषोंका सङ्ग करे तो वह कष्टसाध्य कार्य भी सुगमतासे ही सिद्ध कर लेता है। जब सज्जनोंके सङ्गियोंका सङ्ग करनेसे ऐसा फल मिलता है, तब साक्षात् भगवान्का साथ होनेपर मनुष्य श्रेष्ठ बन जाय—इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है। 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य०' (९।३२)— इस श्लोकमें जो 'पापयोनयः' पद है, वह स्वतन्त्र है; स्त्री, वैश्य और शूद्रका विशेषण नहीं। क्योंकि वैश्यका

वेदोंमें अधिकार है। 'स्त्री' शब्दसे ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी स्त्रियोंका भी ग्रहण हो जाता है। वे अपने-अपने पतिके साथ यज्ञमें बैठ सकती हैं। ब्राह्मणी समस्त जातिकी पूजनीया है, इसलिये वह पापयोनि नहीं कही जा सकती। 'येऽपि स्युः पापयोनयः' में 'स्युः' क्रियाका साक्षात् सम्बन्ध 'पापयोनयः' से ही है। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः' इसमें 'तथा' शब्द स्त्री, वैश्य और शूद्रको 'पापयोनयः' से अलग कर रहा है। इन सबका अन्वय एक साथ 'यान्ति' क्रियामें होता है—'तेऽपि यान्ति परां गतिम्' वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि स्त्रियाँ भी सम्पूर्ण मन्त्रों और वेदोंकी अधिकारिणी नहीं हैं, तथापि भगवान्‌की प्राप्तिमें उनका भी अधिकार है ही—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

(नारदभक्तिसूत्र ७२)

'भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिसे होनेवाला भेद नहीं है।'

शबरीमें स्त्रीत्व होनेपर भी शूद्रत्व और पापयोनित्व भी है। वह कहती है—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

अधम अर्थात् ब्राह्मणकी अपेक्षा नीचा क्षत्रिय, उससे अधम वैश्य, उससे अधम शूद्र और उससे अति अधम शबर जाति तथा शबर जातिकी स्त्रियोंमें फिर मन्दमति मैं। शबरीकी ऐसी अभिमानशून्य वाणी सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

भगवान् तो केवल भक्तिका नाता मानते हैं।

'भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।'

भगवान् तो केवल भक्तिसे संतुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं। वे तो भावग्राही हैं। भगवान्‌के आगे पण्डिताईका जोर नहीं चलता—

मन्दो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
उभयोश्च फलं तुल्यं भावग्राही जनार्दनः॥

किस भावसे कौन क्या कर रहा है, इसे भगवान् जानते हैं। जो कोई प्रेमसे भगवान्‌की ओर दौड़ता है, उसकी ओर भगवान् भी दौड़ पड़ते हैं।

यहाँतक भगवान्‌ने आचरणों और जातिसे नीचके उद्धारकी बात बतायी तथा मध्य श्रेणीके स्त्री, वैश्य और शूद्रोंकी सद्गतिका भी वर्णन किया। अब भगवान् यह बता रहे हैं कि जब पापयोनिवाले एवं स्त्री, वैश्य और शूद्र भी भक्तिसे परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं, तब जो आचरण और जाति दोनोंसे ही पवित्र हैं, उनका भक्तिसे उद्धार होना कौन बड़ी बात है ?

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९। ३३)

इसमें 'कैमुतिक' न्याय है। अर्थात् जब स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा दुराचारी और पतित जातिवालोंका भी उद्धार हो जाता है, तब पवित्र आचरणवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय यदि भगवान्‌के भक्त हों तो उनके उद्धारके विषयमें तो कहना ही क्या है। यदि कोई जातिसे ब्राह्मण और क्षत्रिय हों, पवित्र आचरणवाले भी हों, परंतु भक्त न हों, तो

उनके उद्धारकी गारंटी भगवान् नहीं लेते। इस श्लोकमें भगवान्ने आचरण और जाति दोनोंसे ही उत्तम पुरुषोंको भक्तिका अधिकारी बतलाया है; क्योंकि पहले कहा है कि जो आचरण अथवा जाति दोनोंसे ही नीच हों, वे भी मेरे भक्त बन सकते हैं तथा जो दोनोंसे ऊँचे हों, उनकी तो बात ही क्या है। इस प्रकरणमें भक्तिके साथ अधिकारी बताये गये हैं। इनमें कोई कम नहीं है।

(१) आचरणोंसे नीच, (२) जातिसे नीच, (३) स्त्री, (४) वैश्य, (५) शूद्र, (६) पवित्र ब्राह्मण और (७) राजर्षि।

इन सात अधिकारियोंके ही अन्तर्गत सभी मनुष्य आ जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि भगवान्की भक्तिके सब अधिकारी हैं।

भगवान्ने भक्तिके अधिकारी बतलाकर ३३ के उत्तरार्द्धमें कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

अर्थात् 'नाशवान् एवं सुखरहित मानव-शरीरको प्राप्त करके मेरा भजन कर। इसको अनित्य तथा क्षणभङ्गुर इसलिये कहा कि इसका कोई भरोसा नहीं है! पता नहीं कब नष्ट हो जाय। इसलिये भगवान् चेतावनी देते हैं कि इस शरीरके रहते-रहते मुझे प्राप्त कर लेना चाहिये। भागवतमें भी कहा है—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

(११।९।२९)

अर्थात् 'बहुत-से जन्मोंके अन्तमें बहुत-से प्रयोजन सिद्ध करनेवाले

इस अत्यन्त दुर्लभ किंतु अनित्य मानव-शरीरको पाकर जबतक मृत्यु न आये, उससे पहले जल्दी-से-जल्दी आत्म-कल्याणके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि विषय तो निश्चय ही सर्वत्र मिल सकते हैं, परन्तु भगवान् नहीं ।' गीताके आठवें अध्यायमें तो इसे भगवान् 'दुःखालयमशाश्वतम्' कहते हैं, फिर दुःखालयमें सुख कहाँ ? जिस प्रकार पुस्तकालयमें औषध और औषधालयमें कपड़े नहीं मिल सकते, ठीक उसी प्रकार इस दुःखमय संसारमें सुख नहीं मिल सकता। सुख है ही नहीं। मनुष्यको जबतक किसी बातकी उत्कट इच्छा नहीं होती तबतक किसी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं जो उसे सुख दे सके। इसलिये पदार्थोंके सुखके लिये पदार्थविषयक उत्कट इच्छा और इच्छाके लिये अभावका अनुभव परम आवश्यक है और अभाव-की अनुभूतिमें सुखका नाम-निशान नहीं, दुःख-ही-दुःख है। एक ही अवस्थामें दो पुरुष एक ही साथ जा रहे हैं। दोनोंकी वेष-भूषा एक ही है। दोनोंके पास जूता नहीं, छाता नहीं। दोनोंके पास फटे कपड़े हैं। दोनों एक-से हैं। पर उनमेंसे एक विरक्त है, एक अभावग्रस्त है। विरक्त पुरुषके भीतर दुःखका नाम नहीं है और अभावग्रस्त पुरुषके पास सुखका नाम-निशान नहीं है, वह वस्तुओंके अभावकी अनुभूति-से निरन्तर व्यथित रहता है। उसीको ही क्षणभङ्गुर पदार्थ क्षणिक सुख दे सकते हैं, विरक्तको नहीं; क्योंकि विरक्तको पदार्थोंका सर्वथा अभाव होनेपर भी अभावकी अनुभूति नहीं है। अर्थात् विरक्त किसी वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं समझता; ऐसी स्थितिमें किसी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं है जो उसे सुख दे सके। तात्पर्य यह कि अभावकी अनुभूति न होनेपर विषय सुख नहीं दे सकेगा।

जिसे रुपयेकी चाहना नहीं उसे रुपया सुख नहीं दे सकता। जिसे स्त्रीकी इच्छा नहीं, उसे स्त्री सुख नहीं दे सकती। सुख लेनेवालेको अपने लिये अभावकी अनुभूति आवश्यक है। इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थकी अनुपस्थितिमें भी पदार्थ दुःख देते हैं। मिलनेपर उनके नाशकी शङ्का हरदम बनी रहती है। न्यूनता खटकती रहती है, वही पदार्थ दूसरोंके पास अधिक मात्रामें अपनी अपेक्षा अधिक सुन्दर देखकर जलन होती है। पदार्थ नष्ट हो जानेपर भी दुःख ही देते हैं। लड़केके न रहनेपर दुःख होता है। पैदा होनेपर उसके रोगादिसे दुःख होता है। लड़केकी मृत्यु हो जानेपर उसकी स्मृति किस प्रकार कलेजेमें कसक पैदा करती है, यह अनुभवी पुरुषोंसे छिपा नहीं है। मनुष्य उसके वियोगमें जो रोता-कलपता है, उस दुःखकी क्या बात कही जाय। सांसारिक सुख भी दुःखके ही कारण हैं।

एक मनुष्य ऐसा है, जिसका सुख छिन गया है; दूसरा ऐसा है, जिसको आरम्भसे वह सुख नहीं मिला। वर्तमान समयमें दोनोंकी एक-सी अवस्था है; किंतु पहलेको जैसा दुःख होता है, वैसा दूसरेको नहीं। इसका कारण यह है कि वह वस्तु उसके पास पहलेसे नहीं है, जिसके लिये वह दुःख करता है। इसलिये पदार्थ रहें, तब भी दुःख होता है; न रहें, तब भी दुःख होता है और रहकर चले जायँ, तब भी दुःख उठाना पड़ता है। इसीसे भगवान् इस संसारको असुख, नश्वर और दुःखालय कहते हैं। अतः इस मानव-शरीरका फल भगवद्भजन ही है, विषय-सेवन नहीं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा गहइ परस मनि खोई॥
देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥
(गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)

इसीलिये भगवान् कहते हैं—इस शरीरको प्राप्त होकर मेरा भजन कर। यहाँतक भगवान्‌ने भक्तिके अधिकारियोंका वर्णन कर चेतावनी देते हुए अर्जुनको भगवद्भक्ति करनेकी आज्ञा दी। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌ने भक्तिकी सब युक्तियोंसे पुष्टि की तथा उसे परमावश्यक बतलाते हुए भक्ति करनेका आदेश दिया—'मां भजस्व' (९। ३३)।

अब यह जाननेकी आवश्यकता है कि भक्तिका क्या स्वरूप है। इसके लिये भगवान् स्वयं कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(गीता ९। ३४)

अर्थात् 'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इस श्लोकमें भगवान्‌ने भक्तिकी चार बातें बतायी हैं—

(१) 'मन्मना भव'—मुझमें मन लगानेवाला हो।
(२) 'मद्भक्तो भव'—मेरा भक्त बन जा।
(३) 'मद्याजी भव'—मेरा पूजन करनेवाला हो।

(४) 'मां नमस्कुरु'—मुझे नमस्कार कर ।

इसमें 'मन्मना भव' का अनुष्ठान करनेके लिये भगवान्‌के स्वरूपका नामसहित चिन्तन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । यह सब शास्त्रोंका सार है । संत-महात्मा भी इसीपर जोर देते हैं । कहा भी है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेव सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥

'सब शास्त्रोंका आलोडन तथा बार-बार विचार करनेसे यही बात सिद्ध हुई है कि सदा भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये ।'

भगवान्‌के चिन्तनमात्रसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है । आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें भगवान्‌ने निरन्तर अनन्य-चिन्तन करने-वालेके लिये ही अपने आपको सुलभ बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

समूची गीतामें 'सुलभ' शब्दका प्रयोग केवल इसी श्लोकमें हुआ है । भगवान्‌के निरन्तर चिन्तनमें दो बातें सहायक हैं—

(१) भगवान्‌के नामका जप ।

(२) सत्सङ्ग ।

भगवन्नाम-जपसे भगवान्‌की बारंबार स्मृति होती है । जैसे बिगुल बजनेसे सैनिक सजग हो जाता है, वैसे ही जपसे मनरूपी सैनिक सावधान होता है । इसी प्रकार सत्सङ्ग करनेसे, साधुओंके

दर्शनसे भगवान् याद आ जाते हैं, जिस प्रकार सिपाहीके देखनेसे राजा याद आ जाता है और जब भजन-चर्चा चलती है, तब 'खूब गुजरेगी, मिल बैठेंगे दीवाने दो' वाली कहावत चरितार्थ होती है। अर्थात् भगवान्का निरन्तर चिन्तन होने लगता है। भगवच्चर्चा चलती है तो मन उसमें रम जाता है। कण्ठ गद्गद हो जाता है, नेत्रोंमें आँसू आने लगते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

हिय फाटउ फूटहुँ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवै स्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

भागवतमें भी कहा है—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
(२।३।२४)

कबीरदासजी भी कहते हैं—

सुमिरन सों सुधि लाइए, ज्यों सुरभी सुत माहिं।
कह कबीर चारो चरत छिनहूँ बिसरत नाहिं॥

ऐसा नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेके लिये भगवान् कहते हैं। यह एक बात हुई।

दूसरी बात है—'मद्भक्तो भव'। इसका तात्पर्य यह है कि मेरी आज्ञाका प्रेमपूर्वक पालन कर।

अग्या सम न सुसाहिब सेवा।

भगवान्का आज्ञापालन ही सेवा है। आदरपूर्वक भगवान्की एक आज्ञा पालन करनेसे ही भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

सो सेवक प्रियतम मम सोई । मम अनुसासन मानइ जोई ॥

भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होनेपर फिर क्या बाकी रह सकता है । एक पिताके कई लड़के हैं । उनमें पिताको अत्यन्त प्यारा वह होगा, जो पिताकी आज्ञाका पालन करेगा । गुरुसे वही शिष्य विशेष लाभ उठायेगा, जो गुरु-आज्ञामें तत्पर होगा । आज्ञा-पालनसे पूज्यकी सारी शक्ति आज्ञा-पालकमें उतर आती है । इस विषयमें यह बात विशेष समझनेकी है कि श्रद्धेय पुरुष जिस क्षण किसी बातके लिये आज्ञा दें, उसी क्षण उसका पालन करना चाहिये । इससे विशेष लाभ होता है । असली आज्ञा वही है, जो मालिकके अनुकूल हो, हमारे लिये भले ही प्रतिकूल हो । इसी तरह भगवदाज्ञा-पालन करनेवाला ही भगवद्भक्त है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि भगवान् तो प्रत्यक्ष नहीं; फिर उनकी आज्ञाका पता कैसे लगे ? तो इसका उत्तर यह है कि भगवदाज्ञाका पता लगानेके लिये चार उपाय हैं । एक तो सत्-शास्त्र—वेद, पुराण, ऋषिप्रणीत ग्रन्थ । इनमें जिनके लिये जो कर्तव्य बताया गया है, वही करना चाहिये । ऋषि-मुनियोंने सत्-शास्त्र भगवान्‌का आशय समझकर ही लिखे हैं । इसलिये भगवान् भी कहते हैं—

> **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।**
> **ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥**
> (गीता १६ । २४)

'इससे तेरे लिये कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही

प्रमाण है, यों जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मको ही करने योग्य है।'

और भगवद्गीता-जैसे ग्रन्थ तो, जो साक्षात् भगवान्‌के ही श्रीमुखसे निकले हुए हैं, भगवदाज्ञा हैं ही। इसलिये ऐसे ग्रन्थोंके अनुसार अपना जीवन बना लेना ही भगवदाज्ञाका पालन करना है।

दूसरा उपाय भगवत्प्राप्त महापुरुष जो कहते हैं, उसे भगवदाज्ञा मानकर करना; क्योंकि जिस अन्तःकरणमें राग-द्वेष, स्वार्थ, ममता, अहंकार और पक्षपात नहीं, उस अन्तःकरणसे जो कुछ निकलेगा, वह भगवदाज्ञा ही होगी। भगवान् सब जगह परिपूर्ण हैं; पर जहाँ अन्तःकरण विशेष शुद्ध है, वहीं वे प्रकट होते हैं। इसलिये महात्माओंके वचन सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये होते हैं।

महात्मा जैसा आचरण करते हैं वह भी साधकके लिये भगवदाज्ञा मानने योग्य है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३ । २१)

अर्थात् 'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य भी वैसा ही करते हैं; वह पुरुष जो कुछ आदर्श स्थापित करता है, लोग भी उसके अनुसार वर्तते हैं।'

तीसरा उपाय है—पक्षपातरहित अपने अन्तःकरणमें जो वास्तविक सिद्धान्तके अनुकूल रागद्वेषरहित बात स्फुरित होती है, उसे

भी भगवदाज्ञा मानकर काममें लाना, क्योंकि अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
(१५।१५)

अर्थात् 'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

चौथा उपाय है—जिन कामोंके करनेसे हमारा और लोगोंका अभी और परिणाममें भी परम हित होता दीखता हो, उन्हें भगवदाज्ञा मानकर करना—उसमें भी हमारी अपेक्षा दूसरोंका हित तथा वर्तमानकी अपेक्षा भावीका हित मुख्य है। भगवान् कैसी आज्ञा देंगे, यह उनके स्वभावसे ही समझना चाहिये। जो भगवान् प्राणिमात्रके परम सुहृद् हैं, हेतुरहित दयालु हैं, सबके परम पिता हैं, उन परमात्माका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करना ही है। अतः वे आज्ञा भी अपने स्वभावके अनुकूल ही देंगे।

इन चारों प्रकारोंमेंसे किसी तरहसे भी प्राप्त हुई भगवदाज्ञाको साक्षात् भगवान्‌की दी हुई आज्ञा समझकर परम श्रद्धा और प्रेमके साथ अपना सौभाग्य समझते हुए पालन करना चाहिये। प्रभुकी कृपा और प्रेमका आभारी होना चाहिये। इसीके लिये प्रभु कहते हैं—'मद्भक्तो भव' (९।३४)।

(३) 'मद्याजी (भव)'—मेरा ही पूजन कर। यहाँ भगवान्‌के

श्रीविग्रहका तथा सब जीवोंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनकी जो सेवा करनी है, वही भगवान्‌की पूजा है। भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८।४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त करता है।'

ऐसी पूजा तथा अपना सब कुछ भगवान्‌के समर्पण कर देना ही 'मद्याजी' का तात्पर्य है। भगवान्‌ने कहा—'तू सर्वस्व मेरे ही समर्पण कर दे। अर्थात् अपने मनसे कल्पना की हुई ममता उठा ले।' संसारकी सभी वस्तुएँ परमात्माकी ही हैं। किसी भी वस्तुको न तो हम साथमें लाये हैं न ले जायँगे तथा इन वस्तुओंको रखनेमें भी हम स्वतन्त्र नहीं हैं। मनकी इच्छाके अनुसार रख नहीं सकते। फिर हमारा क्या है, केवल भूलसे ही वस्तुओंपर अपनापन। उसको उठा लेना ही भगवदर्पण करना है। यह तीसरी बात हुई।

(४) चौथी है—'मां नमस्कुरु।' इसका तात्पर्य है आत्म-समर्पण अर्थात् भगवान्‌के विधानमें संतोष। जब अपराधी जिसका अपराध किया है, उसके चरणोंमें गिरकर कहता है; 'सरकार! जो इच्छा हो करें' तब उस अपराधीका कोई अधिकार नहीं रह जाता। इसी प्रकार नमस्कार करनेवाला भगवान्‌के सामने अपना कोई अधिकार नहीं समझता। उनकी मर्जी हो, वैसे रक्खें। जैसे हमने एक यन्त्र किसीको दे दिया। अब वह उसे चाहे जैसे बरत सकता है।

उसका उसपर पूर्ण अधिकार है । हमें आपत्ति क्यों हो । इस प्रकार भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को अर्पित हो जाता है । उसपर भगवान् सुख या दुःख—जो भेज दें, वह सबमें प्रसन्न ही रहता है । वह सुखकी अपेक्षा दुःख पानेपर और प्रसन्न होता है; क्योंकि वह समझता है कि भगवान् मुझपर बड़े प्रसन्न हैं, तभी तो सब क्रियाएँ निस्संकोच करते हैं । हमारी इन्द्रिय-मन-बुद्धिपर ध्यान न देकर अपने मनकी करते हैं । भगवान् हमारे लिये वही करते हैं, जिसमें हमारा परम हित है । हमें वह भले ही विपरीत दिखायी दे, पर भगवान्‌के कामोंमें कहीं भी भूलकी गुंजाइश नहीं है । भगवान् हमपर दुःख भेजते हैं, इसमें हमारे कई लाभ हैं । एक तो हम पापोंसे सावधान होते हैं; क्योंकि भगवान् पापोंके फलरूपमें पापोंके नाशके लिये दुःख देते हैं । दुःखको पापोंका फल समझकर हम फिर पाप करनेसे डरेंगे । भगवान्‌की कितनी दया है ! दूसरा लाभ यह है कि प्रभु हमें अपनानेके लिये परम पवित्र बना रहे हैं । जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसे तपाकर और अधिक शुद्ध करता है । अथवा जैसे माता अपने बच्चेके मैलको धोती है, साफ करती है; क्योंकि उसको अपने हृदयसे लगाना है, गोदमें लेना है । इस प्रकार कृपालु भगवान् भी अपने भक्तको कष्ट देकर उसे पवित्र करते हैं ।

यही भगवान्‌के शरण होना है । भगवान् कहते हैं कि तू इस प्रकार मेरे शरण होकर मुझे ही प्राप्त कर लेगा । यही शरणागति है और 'मत्परायणः' कहकर इसीका वर्णन किया गया है ।

भगवद्भक्तिका रहस्य

भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक ।
इनके पद बंदन किएँ नासत विघ्न अनेक ॥

(१) भक्तिका मार्ग बतानेवाले संत 'गुरु', (२) भजनीय 'भगवान्', (३) भजन करनेवाला 'भक्त' तथा (४) संतोंके उपदेशके अनुसार भक्तकी भगवदाकार वृत्ति 'भक्ति' है। नामसे चार हैं, किंतु तत्त्वतः एक ही हैं ।

जो साधक दृढ़ता और तत्परताके साथ भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यानरूप भक्ति करते हुए तेजीसे चलता है, वही भगवान्‌को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ।

जो जिव चाहे मुक्तिको तो सुमरीजे राम ।
हरिया गैलै चालताँ जैसे आवे गाम ॥

(१) इस भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके अनेक साधन बताये गये हैं । उन साधनोंमें मुख्य है—संत-महात्माओंकी कृपा और उनका सङ्ग । रामचरितमानसमें कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
भक्ति तात अनुपम सुख मूला । मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥

उन संतोंका मिलन भगवत्कृपासे ही होता है । श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥
.... । बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ॥
.... । सतसंगति संसृति कर अंता ॥

असली भगवत्प्रेमका नाम ही भक्ति है। कहा भी है—

पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।
अस बिचारि पुनि पुनि मुनि करत राम गुन गान॥

इस प्रकारके प्रेमकी प्राप्ति संतोंके सङ्गसे अनायास ही हो जाती है; क्योंकि संत-महात्माओंके यहाँ परम प्रभु परमेश्वरके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यकी कथाएँ होती रहती हैं। उनके यहाँ यही प्रसङ्ग चलता रहता है। भगवान्‌की कथा जीवोंके अनेक जन्मोंमें किये हुए अनन्त पापोंकी राशिका नाश करनेवाली एवं हृदय और कानोंको अतीव आनन्द देनेवाली है। जीवको यज्ञ, दान, तप, व्रत, तीर्थ आदि बहुत परिश्रमसाध्य पुण्य-साधनोंके द्वारा भी वह लाभ नहीं प्राप्त होता, जो सत्सङ्गसे अनायास ही हो जाता है; क्योंकि प्रेमी संत-महात्माओंके द्वारा कथित भगवत्कथाके श्रवणसे जीवके पापोंका नाश हो जाता है। इससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल होकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें सहज ही श्रद्धा और प्रीति उत्पन्न हो जाती है। भक्तिका मार्ग बतानेवाले संत-महात्मा ही भक्तिमार्गके गुरु हैं। इनके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें कहा है—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥
(११।११।२९-३१)

'भगवान्‌का भक्त कृपालु, सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैर-भावसे रहित, कष्टोंको प्रसन्नतापूर्वक सहन करनेवाला, सत्यजीवन, पापशून्य, समभाववाला, समस्त जीवोंका सुहृद्, कामनाओंसे कभी आक्रान्त न होनेवाली शुद्ध बुद्धिसे सम्पन्न, संयमी, कोमलस्वभाव, पवित्र, पदार्थोंमें आसक्ति और ममतासे रहित, व्यर्थ और निषिद्ध चेष्टाओंसे शून्य, हित-मित-मेध्य-भोजी, शान्त, स्थिर, भगवत्परायण, मननशील, प्रमादरहित, गम्भीरस्वभाव, धैर्यवान्, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सररूप छः विकारोंको जीता हुआ, मानरहित, सबको मान देनेवाला, भगवान्‌के ज्ञान-विज्ञानमें निपुण, सबके साथ मैत्रीभाव रखनेवाला, करुणाशील और तत्त्वज्ञ होता है।'

ऐसे भगवद्भक्त ही वास्तवमें भक्तिमार्गके प्रदर्शक हो सकते हैं।

(२) इस जीवको संसारके किसी भी उच्च-से-उच्च पद या पदार्थकी प्राप्ति क्यों न हो जाय, इसकी भूख तबतक नहीं मिटती, जबतक यह अपने परम आत्मीय भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर लेता; क्योंकि भगवान् ही एक ऐसे हैं, जिनसे सब तरहकी पूर्ति हो सकती है। उनके सिवा सभी अपूर्ण हैं। पूर्ण केवल एक वे ही हैं और वे पूर्ण होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति बिना कारण ही प्रेम और कृपा करनेवाले परम सुहृद् हैं, साथ ही वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी हैं। कोई सर्वसुहृद् तो हो पर सब कुछ न जानता हो, वह हमारे दुःखको न जाननेके कारण उसे दूर नहीं कर सकता और यदि सब कुछ जानता हो पर सर्वसमर्थ न हो तो भी असमर्थताके कारण दुःख दूर नहीं कर सकता।

एवं सब कुछ जानता भी हो और समर्थ भी हो, तब भी यदि सुहृद् न हो तो दुःख देखकर भी उसे दया नहीं आती, जिससे वह हमारा दुःख दूर नहीं कर सकता। इसी प्रकार सुहृद् भी हो अर्थात् दयालु भी हो और समर्थ भी हो, पर हमारे दुःखको न जानता हो, तो भी काम नहीं होता तथा सुहृद् और सर्वज्ञ हो, पर समर्थ न हो तो वह हमारे दुःखको जानकर भी दुःख दूर नहीं कर सकेगा; क्योंकि उसकी दुःखनिवारणकी सामर्थ्य ही नहीं। किंतु भगवान्‌में उपर्युक्त तीनों बातें एक साथ हैं।

(३) उन सर्वसुहृद्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌पर ही निर्भर होकर जो उनकी भक्ति करता है, वही भक्त है। भगवान्‌की भक्तिके अधिकारी सभी तरहके मनुष्य हो सकते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके ३० वें ३२ वें और ३३ वें श्लोकोंमें बतलाया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पापयोनि और दुराचारी— ये सातों ही मेरी भक्तिके अधिकारी हैं।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है—अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

'फिर इसमें तो कहना ही क्या है कि पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरे शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं ।'

यहाँ भगवान्‌ने जातिमें सबसे छोटे और आचरणोंमें भी सबसे गिरे हुए—दोनों तरहके मनुष्योंको ही भगवद्भक्तिका अधिकारी बतलाया । यद्यपि विधि-निषेधके अधिकारी मनुष्य ही होते हैं, तो भी 'पापयोनि' शब्द तो इतना व्यापक है कि इससे गौणीवृत्तिसे पशु-पक्षी आदि सभी प्राणी लिये जा सकते हैं । अब रहे भावसे होनेवाले अधिकारी । श्रीमद्भागवतमें बतलाया है कि कोई भी कामना न हो या सभी तरहकी कामना हो अथवा केवल मुक्तिकी ही कामना हो, तो भी श्रेष्ठ बुद्धिवाला—मनुष्य तीव्र भक्तियोगसे परम पुरुष भगवान्‌की ही पूजा करे—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

(२ । ३ । १०)

यहाँ 'अकाम'से ज्ञानी भक्त, 'मोक्षकाम'से जिज्ञासु तथा 'सर्वकाम'से अर्थार्थी और आर्त्त भक्त समझना चाहिये । ज्ञानी भक्त वह है जो भगवान्‌को तत्त्वतः जानकर स्वाभाविक ही उनका निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भजन करता रहता है । जिज्ञासु भक्त उसका नाम है, जो भगवत्तत्त्वको जाननेकी इच्छासे उनका भजन करता है । अर्थार्थी भक्त वह होता है, जो भगवान्‌से

भरोसा करके उनसे ही संसारी भोग-पदार्थोंको चाहता है, और आर्त भक्त वह है, जो संसारके कष्टोंसे उन्हींके द्वारा त्राण चाहता है ।

गीतामें इन्हीं भक्तोंके सकाम और निष्काम भावोंके तारतम्यसे चार प्रकार बतलाये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं ।'

इनमें सबसे निम्नश्रेणीका भक्त अर्थार्थी है, उससे ऊँचा आर्त, आर्तसे ऊँचा जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ऊँचा ज्ञानी है । भोग और ऐश्वर्य आदि पदार्थोंकी इच्छाको लेकर जो भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त होता है, उसका लक्ष्य भगवद्भजनकी ओर गौण तथा पदार्थोंकी ओर मुख्य रहता है; क्योंकि वह पदार्थोंके लिये भगवान्‌का भजन करता है, न कि भगवान्‌के लिये । वह भगवान्‌को तो धनोपार्जनका एक साधन समझता है; फिर भी भगवान्‌पर भरोसा रखकर धनके लिये भजन करता है, इसलिये वह भक्त कहलाता है ।

जिसको भगवान् स्वाभाविक ही अच्छे लगते हैं और जो भगवान्‌के भजनमें स्वाभाविक ही प्रवृत्त होता है, किंतु सम्पत्ति-वैभव आदि जो उसके पास हैं, उनका जब नाश होने लगता है अथवा शारीरिक कष्ट आ पड़ता है, तब उन कष्टोंको दूर करनेके

लिये भगवान्‌को पुकारता है, वह आर्त भक्त अर्थार्थीकी तरह वैभव और भोगोंका संग्रह तो नहीं करना चाहता, परंतु प्राप्त वस्तुओंके नाश और शारीरिक कष्टको नहीं सह सकता; अतः इसमें उसकी अपेक्षा कामना कम है और जिज्ञासु भक्त तो न वैभव चाहता है न योगक्षेमकी ही परवा करता है; वह तो केवल एक भगवत्तत्त्वको ही जाननेके लिये भगवान्‌पर ही निर्भर होकर उनका भजन करता है।

भगवान्‌ने यहाँ ज्ञानी, जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी—ऐसा अथवा अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी—ऐसा क्रम न बतलाकर आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ऐसा कहा है। यहाँ आर्त और अर्थार्थीके बीचमें जिज्ञासुको रखनेमें भगवान्‌का यह एक विलक्षण तात्पर्य माल्रम देता है कि जिज्ञासुमें जन्म-मरणके दुःखसे दुखी होना और अर्थोंके परम अर्थ परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिकी इच्छा—ये दोनों हैं। इस प्रकार आर्त और अर्थार्थी दोनोंके आंशिक धर्म उसमें आ जाते हैं। इसी तरह आर्त और अर्थार्थी भक्तोंमें आर्तिनाश और पदार्थकामनाके अतिरिक्त मुक्तिकी इच्छा भी रहती है; इसलिये भगवान्‌से जो कष्ट-निवृत्ति तथा सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिकी कामना की गयी, उस कामनारूप दोषको समझनेपर उनके हृदयमें ग्लानि और पश्चात्ताप भी होता है। अतः आर्त और अर्थार्थी—इन दोनोंमेंसे कोई तो जिज्ञासु होकर भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेते हैं और कोई भगवान्‌के प्रेमके पिपासु होकर भगवत्प्रेमको प्राप्त कर लेते हैं एवं अन्ततोगत्वा वे दोनों सर्वथा आप्तकाम होकर ज्ञानी भक्तकी श्रेणीमें चले जाते हैं। ज्ञानी सर्वथा निष्काम होता है, इस सर्वथा निष्कामभावका द्योतन करनेके

लिये ही भगवान्‌ने 'च' शब्दका प्रयोग करके उसे सबसे विलक्षण बतलाया है। ऐसे ज्ञानी भक्तोंकी भगवद्भक्ति सर्वथा निष्काम— अहैतुकी होती है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(१।७।१०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चिज्जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान् श्रीहरि ऐसे ही अद्भुत दिव्य गुणवाले हैं।'

भगवान् तो उपर्युक्त सभी भक्तोंको 'उदार' मानते हैं— 'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७। १८)। अर्थार्थी और आर्त भक्त उदार कैसे? इसका उत्तर यह है कि अपनेसे माँगनेवालों और दुःखनिवारण चाहनेवालोंको भी उदार कहना तो वस्तुतः भगवान्‌की ही उदारता है; परंतु भगवान् इस दृष्टिसे भी उन्हें उदार कह सकते हैं कि वे मेरा पूरा विश्वास करके मुझे अपना अमूल्य समय देते हैं। दूसरी बात यह है कि वे फलप्राप्तिको मेरे भरोसे छोड़कर मेरा आश्रय पहले लेते हैं, तब पीछे मैं उन्हें भजता हूँ (गीता ४। ११)। तीसरी बात यह है कि वे देवता आदिका पूजन करके अपना अभीष्ट फल शीघ्र प्राप्त कर सकते थे (गीता ४। १२) और मेरी भक्ति करनेपर तो मैं उनकी कामना पूर्ण करूँ या न भी करूँ; तब भी वे उन देवताओंकी अपेक्षा मुझपर विशेष विश्वास करके मेरा भजन करते हैं। इसलिये वे उदार हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि चाहे जैसे भी हीन जन्म, आचरण और भाववाला मनुष्य क्यों न हो वह भी भगवद्भक्तिका अधिकारी हो सकता है।

भगवान्‌के साथ अपनेपनको लेकर उनपर दृढ़ विश्वासका होना—यह भक्तहृदयका प्रधान चिह्न है। भक्तोंका हृदय सम्पूर्ण जगत्‌में अव्यक्तरूपसे परिपूर्ण रहनेवाले परमात्माको आकर्षित करके साक्षात् मूर्तरूपमें प्रकट कर लेता है, जैसे भक्त ध्रुव और प्रह्लादके लिये भगवान् साक्षात् प्रकट हो गये थे।

उन सर्वेश्वर प्रभुमें भक्तका हृदय धारावाहिकरूपसे तन्मय हो जाता है। इस प्रकार हृदयकी तल्लीनता तो मारीच, कंस, शिशुपाल आदिकी भाँति भय और द्वेष आदिके कारण भी हो सकती है। किंतु वह तल्लीनता भक्तिमें परिणत नहीं हो सकती; क्योंकि उसे भक्तिरसके आनन्दका अनुभव नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति सर्वलोकपावनी गङ्गाजीमें वैशाखमासमें स्नान करता है तो गङ्गास्नानसे उसके पापोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और उसे स्नान करनेमें भी प्रत्यक्ष ही अपूर्व रसानुभूति—आनन्दानुभव होता है; किंतु जो माघमासमें गङ्गास्नान करता है, उसके पापोंका तो अवश्य नाश हो जाता है, पर शीतके कारण उसे स्नान करनेमें आनन्द नहीं आता, प्रत्युत उसका आनन्दांश तिरस्कृत होकर उसे कष्टका अनुभव होता है। इसी तरह भय, द्वेष आदिके कारण भगवदाकार अन्तःकरणवालोंका आनन्दांश तिरोहित होकर उनका हृदय दुःखित और चिन्तित रहता है।

इसलिये उनके अन्तःकरणकी तदाकारता भक्तिमें शामिल नहीं है। अतः भगवान्‌के प्रति आत्मीयताको लेकर दृढ़ विश्वास और प्रेमपूर्वक जो अन्तःकरणका भगवदाकार हो जाना है, वही भक्ति है। किंतु नास्तिकोंकी अपेक्षा तो भय-द्वेष आदिको लेकर भगवान्‌का चिन्तन करनेवाले भी अच्छे हैं। फिर उनका तो कहना ही क्या है जो भगवान्‌का श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर निष्काम अनन्य भजन करते हैं। जिस प्रकार गङ्गाकी चाल स्वाभाविक ही निरन्तर समुद्रकी ओर है, इसमें न तो उसका अपना कोई प्रयोजन है और न वह कहीं ठहरती ही है, इसी प्रकार अनन्य भक्त न तो कुछ चाहते ही हैं और न कहीं भगवत्स्मरणसे विराम ही लेते हैं; वे तो नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे भजन ही करते रहते हैं। श्रीनारदजीने भी कहा है—

'भक्ता एकान्तिनो मुख्याः।' (सूत्र ६७)

(४) एकमात्र भगवान्‌को इष्ट मानकर उन्हींकी अनन्य भक्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति है। इसलिये सम्पूर्ण जगत्‌को भगवान्‌का स्वरूप समझकर भी ऐसी भक्तिका साधन किया जा सकता है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही जगत्‌के रूपमें प्रकट हुए हैं, इसीलिये यह सारा ब्रह्माण्ड भगवान्‌का ही स्वरूप है एवं देवता आदिमें भगवान्‌की बुद्धि करके भी भक्ति की जा सकती है और इसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही है। इस प्रकारकी भगवान्‌की भक्ति करनेवालेमें दो बातें प्रधान होनी चाहिये—साधकमें हो निष्कामभाव और उपास्यमें हो भगवद्बुद्धि। इससे भगवान्‌की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है। किंतु समस्त जगत्‌में भगवद्बुद्धि न होकर भी साधकमें पूर्ण निष्कामभाव हो तो

भी उसकी सेवाका फल भगवत्प्राप्ति ही है । भगवान्‌की भक्ति तो सकामभावसे करनेपर भी ध्रुवकी भाँति भगवत्कृपासे अभीष्ट फलकी सिद्धिपूर्वक भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । यदि कोई देवताओंको देवता मानकर भी निष्कामभावसे केवल भगवदाज्ञापालनपूर्वक भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ही उनकी भक्ति करता है तो उसका फल भी भगवत्प्राप्ति ही होता है । फिर जो स्वयं भगवान्‌की ही निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर अनन्य भक्ति करते हैं, उन अनन्य भक्तोंको भगवान् मिलें—इसमें तो बात ही क्या है । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

भक्तिमें प्रधान बात है—भगवान्‌का होकर नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभावसे उन्हींका स्मरण-चिन्तन करते रहना । स्मरणका बड़ा भारी अद्भुत प्रभाव है । भक्तोंकी कथाओंमें प्रायः यही बात विशेष मिलती है कि जहाँ भी जिस भक्तने भगवान्‌को अपना समझकर दृढ़ विश्वासपूर्वक प्रेमभावसे विह्वल होकर भगवान्‌का स्मरण किया, वहीं भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट हो गये ।

पद्मपुराणके रामाश्वमेधमें श्रीहनुमान्‌जीकी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण

घटनाका उल्लेख मिलता है । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अश्वमेध यज्ञके लिये छोड़ा हुआ घोड़ा अनेक देश-देशान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जब रामभक्त राजा सुरथके कुण्डलनगरमें पहुँचा, तब राजाने भगवान्‌के दर्शनकी लालसासे उस घोड़ेको पकड़वा लिया । जब अश्वरक्षक शत्रुघ्न आदिको घोड़ेके पकड़े जानेका पता लगा, तब उन्होंने उनसे युद्ध करके अश्वको छुड़ा लानेका विचार किया । इतनेमें ही धर्मात्मा राजा सुरथ और उनके राजकुमार चम्पक भी रणभूमिमें पहुँच गये तथा दोनों ओरके सैनिक आपसमें लड़ने लगे । राजकुमार चम्पकने भरतकुमार पुष्कलको रामास्त्रका प्रयोग करके बाँध लिया । यह देखकर श्रीहनुमान्‌जीने चम्पकके सामने जाकर युद्ध किया तथा चम्पकको युद्धभूमिमें गिराकर मूर्च्छित कर दिया और पुष्कलको बन्धनसे छुड़ा लिया ।

इसपर राजा सुरथने श्रीहनुमान्‌जीकी रामभक्तिकी बड़ी प्रशंसा की और वे उनसे युद्ध करने लगे। जब राजाके छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रको श्रीहनुमान्‌जी निगल गये, तब राजाने श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके रामास्त्रका प्रयोग किया । उस समय श्रीहनुमान्‌जी बोले—'राजन् ! क्या करूँ, तुमने मेरे स्वामीके अस्त्रसे ही मुझे बाँधा है; अतः मैं इसका आदर करता हूँ । अब तुम मुझे इच्छानुसार अपने नगरमें ले जाओ । मेरे प्रभु दयासागर हैं, वे स्वयं ही आकर मुझे छुड़ायेंगे ।'

श्रीहनुमान्‌जीके बाँधे जानेपर पुष्कलने राजासे युद्ध किया, किंतु वे अन्तमें मूर्च्छित होकर गिर पड़े । तब शत्रुघ्नने राजासे

बहुत देरतक युद्ध किया, पर वे भी राजाके बाणके आघातसे मूर्च्छित होकर रथपर गिर पड़े। यह देखकर सुग्रीव उनसे लड़ने गये, पर राजाने उनको भी रामास्त्रका प्रयोग करके बाँध लिया।

तदनन्तर राजा सुरथ उन सबको रथमें डालकर अपने नगरमें ले गये। वहाँ जाकर वे राजसभामें बैठे और बँधे हुए हनुमान्‌जीसे बोले—'पवनकुमार! अब तुम भक्तोंके रक्षक परम दयालु श्रीरघुनाथजीका स्मरण करो, जिससे सन्तुष्ट होकर वे तुम्हें तत्काल बन्धनमुक्त कर दें।' श्रीहनुमान्‌जीने अपने-सहित सब वीरोंको बँधा देखकर कमलनयन परम कृपालु श्रीरामचन्द्रजीका अनन्यभावसे स्मरण किया। वे मन-ही-मन कहने लगे—

हा नाथ हा नरवरोत्तम हा दयालो
सीतापते रुचिरकुण्डलशोभिवक्त्र।
भक्तार्तिदाहक मनोहररूपधारिन्
मां बन्धनात् सपदि मोचय मा विलम्बम्॥

(पद्म० पाताल० ५३। १४)

'हा नाथ! हा पुरुषोत्तम! हा सुन्दर कुण्डलसे सुशोभित वदनवाले, भक्तोंके दुःख दूर करनेवाले तथा मनोहर विग्रह धारण करनेवाले दयालु सीतापते! मुझे इस बन्धनसे शीघ्र मुक्त कीजिये, देर न लगाइये।'

श्रीहनुमान्‌जीके इस प्रकार प्रार्थना करते ही तुरंत भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पुष्पक विमानपर आरूढ होकर वहाँ आ पहुँचे। भगवान्‌को पधारे देख राजा सुरथ प्रेममग्न हो गये और उन्होंने भगवान्‌को सैकड़ों वार प्रणाम किया। श्रीरामने भी चतुर्भुजरूप

धारण करके अपने भक्त सुरथको छातीसे लगा लिया और आनन्दाश्रुओंसे उसका मस्तक अभिषिक्त करते हुए कहा—'राजन् ! तुम धन्य हो । आज तुमने बड़ा पराक्रम दिखाया है ।' फिर भगवान्ने श्रीहनुमान्, सुग्रीव, शत्रुघ्न, पुष्कल आदि सभी योद्धाओंपर दयादृष्टि डालकर उन्हें बन्धन और मूर्च्छासे मुक्त किया । उन्होंने उठकर भगवान्को प्रणाम किया । राजा सुरथने प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य भगवान् रामको समर्पित कर दिया । भगवान् तीन दिन कुण्डलनगरमें रहे, फिर राजा सुरथको ही राज्य सौंपकर उनकी सम्मति ले वहाँसे चले गये । तब राजा सुरथ अपने राजकुमार चम्पकको राज्यभार देकर शत्रुघ्नके साथ अश्वकी रक्षाके लिये चल पड़े ।

यहाँ हमें भक्त हनुमान् और राजा सुरथके भक्तिभावपूर्वक किये हुए स्मरणके प्रभावपर ध्यान देना चाहिये । उनकी अनन्य भक्तिसे आकृष्ट होकर भगवान् तुरंत वहाँ पहुँच गये । भगवान्के प्रेमपूर्वक अनन्य स्मरणका बड़ा भारी माहात्म्य है । भक्त सुधन्वाकी कथा देखिये, भगवान्के स्मरणके प्रभावसे अत्यन्त प्रतप्त तेल भी उनके लिये अतिशय शीतल हो गया तथा अर्जुनके साथ युद्ध करते समय भी उनमें जगह-जगह भगवत्स्मरणका प्रभाव दिखायी पड़ता है ।

जब अर्जुनने भगवान्का स्मरण करके तीन बाण निकालकर प्रतिज्ञा की कि इन तीन ही बाणोंसे मैं सुधन्वाका मस्तक काट डालूँगा; यदि ऐसा न कर सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिर पड़ें । तब ठीक इसके विरुद्ध सुधन्वाने भगवान्का स्मरण करके प्रतिज्ञा की कि इन तीनों ही बाणोंको मैं अपने बाणोंसे

काट डालूँगा, यदि ऐसा न कर सकूँ तो मुझे घोर गति प्राप्त हो। भगवान्‌ने इन दोनों ही भक्तोंकी भगवत्स्मरणपूर्वक की गयी प्रतिज्ञाको सच्चा किया। भक्त अर्जुनकी रक्षाके लिये भगवान्‌ने पहले बाणको अपने गोवर्धनधारणका पुण्य अर्पित करके बाण छोड़नेका अर्जुनको आदेश दिया। अर्जुनने तदनुसार बाण छोड़ा, किंतु सुधन्वाने भगवान्‌को याद करके अपने बाणसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तब भगवान्‌ने अर्जुनको दूसरा बाण सन्धान करनेकी आज्ञा दी और साथ ही उसे अपने अन्य अनेक पुण्य अर्पण किये। अर्जुनके दूसरा बाण छोड़ते ही सुधन्वाने उसे भी भगवान्‌का स्मरण करके काट डाला। अब तीसरा बाण रहा, भगवान्‌ने उसे अपने रामावतार-का पुण्य अर्पण कर दिया तथा उसके पिछले भागमें ब्रह्माजी और बीचमें कालको जोड़कर अग्रभागमें स्वयं जा विराजे एवं अर्जुनको बाण चलानेकी आज्ञा दी। जब अर्जुनने तीसरा बाण छोड़ा, तब सुधन्वाने भगवान्‌से कहा—'भगवन्! आप स्वयं इस बाणमें विराजमान हैं, यह मैं जान गया हूँ। अब आप मुझे अपने चरणोंमें आश्रय देकर कृतार्थ करें।' यों कहकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए उन्होंने अपने बाणसे उसके भी दो टुकड़े कर दिये। उन दो टुकड़ोंमेंसे पिछला भाग पृथ्वीपर गिर पड़ा तथा अग्रभागवाला टुकड़ा जिसपर भगवान् श्रीकृष्ण विराजे थे, उछला और उसने सुधन्वाका मस्तक काट डाला। सुधन्वाका सिर कटकर भगवान्‌के चरणोंमें आ गिरा। अपने सम्मुख भगवान्‌का दर्शन करते हुए उसके मुखसे एक ज्योति निकलकर भगवान्‌में प्रवेश कर गयी।

अतएव भगवत्स्मृतिके प्रभावको लक्ष्यमें रखकर हमें भी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌का स्मरण रखते हुए ही करनी चाहिये । सांसारिक कार्य करते हुए भी नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण होते रहना चाहिये । परंतु एकान्तमें भगवान्‌का भजन-स्मरण, सेवा-पूजा आदि नित्यकर्मके लिये बैठें, उस समय तो संसारका स्मरण किञ्चित् भी न हो—ऐसा विशेष ख्याल रखनेकी आवश्यकता है । भगवत्स्मरण नित्य-निरन्तर होनेके लिये भगवान्‌में अनन्य प्रेम, सत्पुरुषोंका सङ्ग, सच्छास्त्रोंका मननपूर्वक स्वाध्याय, भगवान्‌के नामका जप, भगवान्‌की स्तुति-प्रार्थना, भगवत्कृपासे निरन्तर स्मृति बनी रहनेका दृढ़ विश्वास और हर समय सावधानीपूर्वक उस स्मृतिको बनाये रखनेकी चेष्टा—ये सात विशेष सहायक हैं । इन सातोंका अनुष्ठान करते हुए जो एकमात्र भगवान्‌का ही अनन्य स्मरण करता है उसकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंका नाश हो जाता है और उसे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है । भगवान्‌के स्मरणका प्रभाव और माहात्म्य क्या बतलाया जाय—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

‘जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य आवागमनरूप बन्धनसे छूट जाता है, सबको उत्पन्न करनेवाले उस परम प्रभु श्रीविष्णुको बार-बार नमस्कार है ।’

सब नाम-रूपोंमें एक ही भगवान्

भारतीय संस्कृतिमें सबसे मुख्य वेद माने जाते हैं । वे अपौरुषेय हैं, अनादि हैं और सदा रहनेवाले—नित्य हैं । उनमें (कर्म, उपासना और ज्ञान) तीन काण्ड माने जाते हैं । उन्हीं तीनोंका विशद एवं विस्तृत वर्णन पुराण और इतिहास-ग्रन्थोंमें मिलता है, जिनकी रचना सुन्दर-सुन्दर कथाओंके द्वारा सर्वसाधारण जनताको गम्भीर विषय सरलतासे समझानेके लिये श्रीव्यासदेवने कृपापूर्वक की है । ऐसे तो पुराण भी अनादि ही माने जाते हैं, पर इनका समय-समयपर जीर्णोद्धार होता रहा है । पुराणोंमें ही लेख मिलता है कि इनका कलेवर बहुत बड़ा था । उसको अल्पायु कलियुगी जीवोंके लिये संक्षिप्त रूप दिया गया है । इनमें सांसारिक तथा पारमार्थिक सर्वोपयोगी सभी विषयोंका बड़ा अच्छा वर्णन किया गया है । पढ़नेसे मालूम होता है कि दैवी-सम्पत्ति, आसुरी-सम्पत्ति, तीर्थ, व्रत, उपवास, यज्ञ, दान, तप, संयम, सेवा, आश्रमधर्म, वर्णधर्म, स्त्रीधर्म, सामान्यधर्म, राजधर्म, प्रजाधर्म, जाति, देश, काल समय, सम्बन्ध, परिस्थिति आदिको लेकर अवश्य-कर्तव्य कर्म आदि-आदि विषयोंका गूढ़ आशयसहित विचित्र ढंगसे वर्णन हुआ है ।

साधारण रीतिसे देखनेपर कहीं-कहीं परस्पर बड़ा विरोध-सा मालूम देता है, जिसका साधारण मनुष्योंके द्वारा समाधान करना कठिन हो जाता है—इतनी ही बात नहीं, अपितु अपने अविवेकके कारण पुराणोंकी बातें पक्षपातपूर्ण, अनर्गल एवं असत्य प्रतीत होती हैं, जिससे मनमें

नास्तिकता आ जाती है; क्योंकि जब जहाँ जिस तीर्थ, व्रत आदिकी महिमा वर्णन करने लगते हैं, वहाँ उसीको सर्वोपरि बतला दिया जाता है। जैसे—श्रीगङ्गाजीकी महिमा आयी तो कहा—इसके समान न सरयू है, न तो पुष्कर है, न यमुना है, न तीर्थराज प्रयाग ही है; और तीर्थराजका वर्णन करने लगे तो कहा कि इसके समान और कोई तीर्थ है ही नहीं—न गङ्गा है, न यमुना है, न सरयू है, न पुष्कर है। एक यही सम्पूर्ण तीर्थोंका राजा है। काशी-माहात्म्यमें आया है कि इस मोक्षदायिनी पुरीके समान तीर्थ इस त्रिलोकीमें कोई नहीं है। इसकी बराबरीमें न सरयू है, न यमुना है, न पुष्कर; क्योंकि यह भगवान् शङ्करके त्रिशूलपर बसी हुई है। ऐसे ही कार्तिक-माहात्म्य, वैशाख-माहात्म्य, मार्गशीर्ष-माहात्म्य तथा एकादशी आदि व्रतोंके विषयमें भी कथन है। इस प्रकार एकके द्वारा दूसरेका खण्डन हो जानेसे सबका खण्डन हो जाता है।

कहीं-कहीं तो इसके अतिरिक्त भिन्न प्रकारसे ऐसा कहा है कि तीर्थयात्राका फल साधारण है, व्रतका विशेष; व्रतसे इन्द्रियसंयमका और इन्द्रियसंयमसे भजन—भगवच्चिन्तनका और अधिक एवं भगवत्प्रेमका उससे भी अत्यधिक है।

> धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
> नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

आदि-आदि।

इसका समाधान करनेके लिये दो विभाग कर लेने चाहिये कि पूर्वका वर्णन निष्ठाकी दृष्टिसे है और दूसरा वर्णन वस्तु-तत्त्व-दृष्टिसे। अतः इसमें कोई विरोध नहीं है। निष्ठाका तात्पर्य है—एक मनुष्यविशेषकी किसी इष्टपर हृदयकी दृढ़ धारणा। उस

धारणाको अत्यधिक दृढ़ करनेके लिये ही पहला वर्णन है। इससे हृदय-प्रधान साधककी वृत्ति सब ओरसे हटकर एक इष्टमें लग जाती है और उसीमें सर्वोपरि अनन्य भावना हो जाती है; ऐसा होनेसे जब सर्वोपरि परमात्मा प्रकट हो जाते हैं, तब या तो उसे सारा यथार्थ तत्त्व भगवान् समझा देते हैं या वह स्वयं उसकी समझमें आ जाता है।

कहा भी है—

आदि अन्त जन अनँतके सारे कारज सोय।
जँहि जिव उर नहचो धरै तँहि ढिग परगट होय॥

फिर उसके लिये कुछ भी करना-जानना शेष नहीं रह जाता। वह कृतकृत्य और ज्ञातज्ञातव्य हो जाता है।

दूसरे प्रकारका वर्णन बुद्धिप्रधान तर्कशील मनुष्योंके लिये है। उसपर विश्वास करके चलनेवाला क्रमशः एकसे दूसरे और दूसरेसे तीसरे साधनद्वारा यथार्थ स्थितिमें पहुँच जायगा। यदि तारतम्यताके विवेकद्वारा निःसन्दिग्ध होकर तेजीसे चलता रहेगा तो वह भी क्रमशः सब श्रेणियोंको पार करता हुआ उस पार पहुँचकर सदाके लिये कृतकृत्य, ज्ञातज्ञातव्य हो जायगा।

सिद्धान्ततः बात यह है कि श्रीपरमात्मा एक हैं, वे ही अनेक जगह अनेक नामोंसे कहे गये हैं। वे अनेक जगह अनेक रूपोंमें रहते हुए भी हरेक जगह पूर्णरूपसे ही विराजमान हैं। जो उनको जिस भावसे, जिस रूपमें, जिस प्रकार चाहता है, वह वैसे ही उनको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि वे भी उसे वैसे ही चाहते हैं। उनकी यह घोषणा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

अतः कोई चाहे किसी भी रीतिसे उनको भजे, यदि आजतक किसीने भी जिस प्रकारसे उपासना न की हो; ऐसे किसी नये ढंगकी उपासना भी कोई करे, तो भी प्रेमकी पूर्णता होनेपर उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य होगी; क्योंकि वह एकमात्र अपने प्रियतम परमात्माको ही चाहता है। उनके लिये जो कनक, कामिनी, आराम, मान, सत्कार, कीर्ति आदि लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंका त्याग करता है, किसी भी नाशवान् पदार्थको नहीं चाहता, सच्ची हार्दिक लगनसे सर्वोत्तम परमपुरुष पुरुषोत्तम भगवान्‌को चाहता है, ऐसे साधकसे बिना मिले वे कैसे रह सकते हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है कि सच्ची लगन और ईमानदारीके साथ जिस तत्त्वको मनुष्य सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि, सर्वथा पूर्ण मानता है, उसका वह चाहे कैसा भी नाम-रूप क्यों न मानता हो, चाहे किसी भी प्रकार-विशेषसे उसकी सेवा, पूजा, उपासना क्यों न करता हो, भगवान् उसको अपनी ही उपासना, सेवा और पूजा मानते हैं; क्योंकि सर्वोपरि तत्त्व एक है और वही हैं भगवान्। साधककी समझमें भूल हो सकती है, परंतु भगवान्‌के यहाँ तो भूल नहीं होती। वे एकमात्र भावको ही देखते हैं। अतः श्रद्धालु साधकको चाहिये कि भगवान्‌के किसी भी रूप और नामपर पूर्ण विश्वास करके अनन्य प्रेमपूर्वक उनका स्मरण करता रहे, किसी भी अवस्थामें उनको भूले नहीं, तो प्राप्ति भगवान्‌की ही होगी।

भगवत्तत्त्व

परात्कृतनमद्द्वन्द्वं परब्रह्म नराकृति ।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजं महः ॥

परमात्माका वास्तविक तत्त्व समझनेके लिये न तो कोई दृष्टान्त ठीक तरहसे लागू होता है और न कोई युक्ति ही । परमात्माका निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार आदि रूपोंसे जो वर्णन किया जाता है, उससे उनका वास्तविक स्वरूप तो अलग ही रह जाता है, पूरा वर्णन हो ही नहीं पाता । क्योंकि वाणी, मन, बुद्धि और युक्तियाँ—सभी कुछ मायिक हैं, प्रकृतिके कार्य हैं और जड हैं; अतः वे उस चिन्मय परमात्माको समझानेमें असमर्थ हैं । जितने दृष्टान्त और युक्तियाँ बतलायी जाती हैं, वे सब परमात्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर मन-बुद्धि उनकी ओर लग जायँ—इसीलिये कही जाती हैं । परमात्माके स्वरूपके वर्णनमें तो देवताओं और ऋषियोंके भी मन-बुद्धि कुण्ठित हो जाते हैं, फिर वहाँ साधारण मनुष्योंके मन-बुद्धि कैसे पहुँच सकते हैं । गीतामें कहा है—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(१०।२)

'मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ।'

जब देवता और महर्षिगण भी उस तत्त्वतक नहीं पहुँच पाते, तब फिर इस मानवी बुद्धिसे उसे समझना-समझाना तो एक बालचपलतामात्र ही है।

यह भगवत्तत्त्वका विषय बहुत ही गूढ और रहस्यमय है। इसे अवश्य जानना चाहिये। मनुष्य-जन्म इसीलिये मिला है। इस तत्त्वको जाननेसे ही यह जन्म सार्थक होता है तथा इसे जान लेनेपर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है; फिर उसे अपने लिये कुछ भी जानना अथवा करना बाकी नहीं रह जाता। 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥' (गीता ७।२) यह विषय इतना दुर्विज्ञेय होनेपर भी भगवान् और महापुरुषोंकी कृपासे सहज ही जाना जा सकता है। उस कृपाकी प्राप्तिके लिये कुतर्क छोड़कर उनसे सरलतापूर्वक इस तत्त्वको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये तथा उनकी आज्ञाके अनुसार अपने कर्तव्यपालनमें तत्पर हो जाना चाहिये। ऐसा करनेसे ही मनुष्य इस दुर्विज्ञेय तत्त्वको समझकर अपने देवदुर्लभ मानव-जन्मको अनायास ही सफल बना सकता है।

अब नीचे एक यन्त्र लिखा जाता है। इससे अपनी वृत्ति

को भगवान्‌की ओर लगाकर इस गूढ तत्त्वको कुछ समझा जा सकता है।

वैसे तो परमात्माके स्वरूप अनन्त हैं, पर समझनेके लिये यहाँ तीन रूप बतलाये जाते हैं—(१) निर्गुण निराकार, (२) सगुण निराकार और (३) सगुण साकार। परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं तथा सगुण-निर्गुण भी हैं और वे इन से भिन्न भी हैं।

निर्गुण-निराकार-तत्त्व

परमात्माका निर्गुण तत्त्व मन-वाणीका अविषय है। वह सत्-असत्‌से विलक्षण है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते॥
(१३ । १२)

'जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह आदिरहित ब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही।'

उस परमात्माको असीम, अपार, अनन्त बतलाया जाता है। पर उसे असीम और आदि-अन्तसे रहित कहना भी देश-कालको स्वीकार करके ही है। किंतु परमात्मा देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। वास्तवमें वह देश, काल, वस्तुसे सर्वथा अतीत है। वहाँ वाणी नहीं पहुँच सकती। इसलिये इन नामोंसे कहना देश-कालको लेकर केवल संकेत करनामात्र ही है। उसे निर्गुण निराकार कहा जाता है। वहाँ सत्त्व, रज, तम आदि कोई गुण नहीं है, उसकी कोई आकृति नहीं है, न कोई नाम ही है। वह तो इन गुणोंसे सर्वथा अतीत और नाम-रूपसे रहित ही है। उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। उसे सच्चिदानन्द कहते हैं—यह लक्षण है। ब्रह्म कहते हैं—यह नाम है। निर्गुण निराकार कहते हैं—यह रूप है। पर यह कैसा रूप है? अरूप ही रूप है। इसका इसी तरह वर्णन किया जाता है। वास्तवमें तो निर्गुण निराकारका वर्णन हो ही नहीं सकता। जो कुछ भी वर्णन किया जाता है, वह गुणोंको लेकर ही किया जाता है। केवल लक्ष्य निर्गुणका रहता है; क्योंकि वर्णन करनेकी सामग्रियाँ—इन्द्रिय, वाणी, मन, बुद्धि आदि सब मायिक ही हैं। उस परमात्माके तत्त्वको समझानेके लिये शास्त्रकारोंने दो तरहके विशेषण दिये हैं—(१) विधेय और (२) निषेध। विधेय विशेषण उन्हें कहते

हैं, जो परमात्माके स्वरूपके साक्षात् द्योतक होते हैं; पर वे भी परमात्मा अनिर्देश्य होनेके कारण तटस्थ ही रह जाते हैं। और निषेध विशेषण उन्हें कहते हैं, जो परमात्मामें आकार, गुण, विनाश, क्रिया, पदार्थ, देश, काल आदिका अभाव बतलाते हैं। परमात्माके सत्, चित्, आनन्द आदि 'विधेय' विशेषण कहे जाते हैं और निराकार, निर्गुण, अव्यय, अविनाशी, अक्रिय, अचल, अद्वैत, अप्रमेय, असीम, अपार, अनादि, अनन्त आदि विशेषण 'निषेध' कहे जाते हैं। वास्तवमें परमात्माका निर्गुण स्वरूप लक्षण और विशेषणोंसे रहित ही है। यह कहना भी समझनेके लिये ही है तथापि उस निर्गुण परमात्माके यथार्थ तत्त्वको बुद्धिसे पकड़नेके लिये ये विशेषण ही काम दे सकते हैं; इनके सिवा बुद्धिको परमात्माके नजदीक पहुँचानेके लिये अन्य कोई सहारा नहीं है। इसीलिये इनका वर्णन किया जाता है।

सत्-तत्त्व

सत् क्या है—जो हरदम रहे, हर वस्तुमें रहे और हर जगह रहे। भगवान्‌ने भी कहा है—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' (गीता २ । २०)—'यह आत्मा अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है।' पर शब्दोंके द्वारा कैसे समझाया जाय। आखिर कोई भी समझायेगा तो हमारी भाषाका आश्रय लेकर ही हमें समझा सकता है। इसी तरह श्रुति भगवती भी देश-कालको लेकर ही उसका लक्ष्य कराती है। श्रुति कहती है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'—
(छा० उ० २ । १)

इत्यादि ।

एकम् एव, अद्वितीयम्——इन शब्दोंसे उस परमात्माको क्रमशः सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंसे रहित बतलाया है। मनुष्य सब एक होते हुए भी व्यक्तिरूपसे एक-एक अलग हैं——यह सजातीय भेद है। मनुष्य और वृक्ष—इनमें सजातीयता नहीं है, एक दूसरेसे भिन्न हैं, अतः यह विजातीय भेद है। 'यह मेरा हाथ है, पैर है' इस प्रकार अवयवोंका भेद स्वगतभेद है। परमात्मा इन सब भेदोंसे रहित है। ये भेद प्रकृतिमें हैं, परमात्मा प्रकृतिसे अत्यन्त परे है।

जिसमें कोई विकार नहीं, भेद नहीं, जो घटता-बढ़ता नहीं, जिसका कभी क्षरण नहीं होता, जिसका कभी कहीं किञ्चिन्मात्र भी अभाव या परिवर्तन नहीं होता; जो सदा सर्वत्र सर्वथा एकरस, एकरूप और परिपूर्ण रहे और जिसमें कभी तनिक भी विकारकी सम्भावना ही न हो, वह 'सत्' है।

उस परमात्माके सिवा जो कुछ भी लौकिक या अलौकिक पदार्थ देखने-सुनने और समझनेमें आते हैं, उन सभीमें विचार करनेपर प्रत्यक्ष यह अनुभव होता है कि एक समयमें ये वस्तुएँ नहीं थीं और किसी समय ये सब नहीं रहेंगी तथा एक देशमें होते हुए भी दूसरे देशमें उन चीजोंका अभाव मालूम होता है एवं वस्तु-का भेद तो प्रत्यक्ष है ही। परंतु सत्-स्वरूप परमात्मामें देश, काल,

वस्तुका अत्यन्त अभाव होनेके कारण उसके देश-काल-वस्तु-निमित्तक अभावकी कभी सम्भावना भी नहीं हो सकती और स्वरूप-से तो वह परमात्मा सत् यानी नित्य विद्यमान है ही। इसीलिये उसे 'सत्' कहते हैं। इस 'सत्' तत्त्वका वर्णन गीताके दूसरे अध्यायके १२, १३, १७, २३, २४, २५; ८ वें अध्यायके २०; १२ वें अध्यायके ३; और १३ वेंके २७ वें श्लोकोंमें विशेष-रूपसे किया गया है।

चित्-तत्त्व

'चित्' से चेतन, बोध, ज्ञान समझना चाहिये। चेतन वह है, जहाँ जडताकी कभी किसी तरह भी जरा भी सम्भावना नहीं है। वह चेतन तो केवल चिन्मय बोधस्वरूप ही है। जडताका अत्यन्त अभाव होनेके कारण उसमें ज्ञातापनका आरोप भी नहीं हो सकता। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, द्रष्टा-दर्शन-दृश्य और प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि भाव भी जिससे स्वाभाविक ही प्रकाशित होते हैं, ऐसा वह चेतन केवल एक दीप्तिमात्र ही है। साधारण लोग प्राण और चेष्टायुक्त जीवोंको चेतन कहते हैं तथा जिसमें प्राण और क्रिया नहीं होती, उसे जड कहते हैं; पर परमात्मामें क्रिया और प्राणके सम्बन्धसे होनेवाली चेतनता नहीं है, उसमें तो केवल चिति—जाननामात्र ही है। तात्पर्य यह कि वहाँ जडता, अज्ञान, मोह, अन्धकार आदि कुछ भी नहीं है; केवल चेतनमात्र ही है तथा वह भी स्वाभाविक स्वतः ही है।

उस चित्-तत्त्वको समझनेके लिये एक बात कही जाती है। संसारमें दो पदार्थ हैं—(१) दीखनेवाला और (२) देखनेवाला।

देखनेवाला चेतन है, दीखनेवाला जड है । देखनेवाला द्रष्टा है, दीखनेवाला दृश्य है । दृश्य दृश्य ही रहता है और द्रष्टा द्रष्टा ही । घट-पट आदि संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले नेत्र हैं । घट-पटादिमें परिवर्तन होता है, उनका परस्पर भेद भी है, कभी उनका प्रकाश होता है तो कभी अप्रकाश । किंतु नेत्रोंमें कोई भेद न रहते हुए भी प्रकाशनशक्ति है । नेत्र भी मनके द्वारा प्रकाश्य हैं । अतः नेत्रोंमें भी अन्धता, मन्दता, पटुता आदि धर्म रहते हैं, उन धर्मोंको मन एकरूपसे देखता है । नेत्रोंका विकार मनमें नहीं आता; क्योंकि नेत्र प्रकाश्य हैं और मन उनका प्रकाशक है । मनसे भी आगे बुद्धितत्त्व है, वह एक रहता हुआ ही मनकी संकल्प-विकल्प आदि अनेक वृत्तियोंको निर्विकाररूपसे प्रकाशित करता है । इसलिये बुद्धि प्रकाशक और मन प्रकाश्य हैं । इसी तरह बुद्धिमें भी अज्ञता, विज्ञता आदि अनेक धर्म रहते हैं । अतः बुद्धि दृश्य और आत्मा द्रष्टा है; क्योंकि बुद्धि और बुद्धिगत विज्ञता-अज्ञता आदि धर्म निर्विकार आत्मासे ही प्रकाशित होते हैं और आत्मा किसीसे भी प्रकाशित नहीं होता । अर्थात् वह मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि किसीका भी विषय नहीं होता । इसलिये वास्तविक द्रष्टा यही है । इसमें भी यह समझनेकी बात है कि आत्माकी द्रष्टा-संज्ञा दृश्यको लेकर ही है । अगर दृश्य नहीं हो तो आत्माकी द्रष्टा-संज्ञा भी नहीं रहती, बल्कि एक चेतनमात्र ही रह जाता है । वह फिर एकदेशीय नहीं रहता; क्योंकि वहाँ दृश्यका—देश, काल, वस्तुका सर्वथा अभाव है । वही परिपूर्ण 'चित्' तत्त्व कहा जाता है । इस चित्-तत्त्वका वर्णन गीतामें ५ वें

अध्यायके २४; ८वें अध्यायके ८, ९; १३ वें अध्यायके १७, ३३ और १५वें अध्यायके १५वें श्लोकोंमें मुख्यतासे किया गया है।

आनन्दतत्त्व

परमात्माका आनन्दस्वरूप भी एक अवर्णनीय तत्त्व है। वह निरतिशय सुखस्वरूप है। वह आनन्द सातिशय नहीं है। जिस सुखकी सीमा (हद) हो जाती है, उसे सातिशय कहते हैं। वह आनन्द असीम है। वह अनुभवमें आनेवाला आनन्द नहीं है, वह तो अनुभवरूप है। आनन्द एक बहुत विशेष सुखको कहते हैं। वह परमात्मा स्वतः सुखरूप सुख है। वह सुख मन-वाणीका विषय नहीं है। वह तो एकमात्र आनन्द ही है—जिसके प्रतिद्वन्द्वी दुःख, अशान्ति, विक्षेप आदिकी कहीं किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना ही नहीं है।

मनुष्यको अपने इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेपर जो मनमें एक प्रकारके आनन्दका अनुभव होता है, उससे अनन्तगुना आनन्द सच्चे वैराग्य, सत्सङ्ग और भजनके अभ्याससे प्राप्त होता है। उसकी अपेक्षा भी परमात्मध्यानजनित आनन्द बहुत ही विलक्षण है। परंतु परमात्माका स्वरूपभूत आनन्द तो फिर भी अलग ही रह जाता है। वह आनन्द किसी तरह भी समझा या समझाया नहीं जा सकता। वह आनन्द-ही-आनन्द है। वह आनन्द अपरिमित, असीम, अपार, अनन्त, एकरस, परिपूर्ण, सम, निर्विकार और घन है—जिस आनन्दमें अन्य किसीकी किसी भी समय किञ्चिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है। वह केवल आनन्द-ही-आनन्द है। यह कहना भी देश, काल, वस्तुको लेकर ही है। वास्तविक

आनन्द तो देश, काल, वस्तुसे सर्वथा असम्बद्ध परमात्मस्वरूप ही है । इस 'आनन्द' तत्त्वका वर्णन गीतामें ५वें अध्यायके २१, २४; ६ठे अध्यायके २१, २७, २८ और १४वें अध्यायके २७ वें श्लोकोंमें मुख्यतासे किया गया है ।

सत्-चित्-आनन्दकी एकता

ये सत्, चित्, आनन्द विशेषण परमात्माके द्योतक हैं, वस्तुतः उसके वाचक नहीं और न ये कोई उससे अलग उसके भिन्न-भिन्न विशेषण ही हैं । उसी एक भगवत्तत्त्वको समझानेके लिये ही शास्त्रोंमें ऋषि-महात्माओंने इन विशेषणोंका वर्णन किया है । वह परमात्मतत्त्व हर समय, हर जगह, हर वस्तुमें एकरस अपरिवर्तितरूपसे विद्यमान रहनेके कारण सत् कहा जाता है । वह नित्य विद्यमान सत्तत्त्व ही अपने-आपको जानता है, इसलिये उसे 'चेतन' कहते हैं । वह सत्तत्त्व ही स्वयंप्रकाश एवं स्वयं ज्ञानस्वरूप है, इसलिये चेतन उसका कोई अलग विशेषण नहीं है । वह स्वयं ही चित्स्वरूप है । उसमें दुःख, अशान्ति आदिकी कदापि सम्भावना नहीं है और उसमें निरतिशय सुखकी कदापि कमी अथवा अभाव नहीं होता—इसलिये वही 'आनन्द' है । इसी तरह 'चेतन' तत्त्व ही नित्य विद्यमान रहनेके कारण 'सत्' और परम सुखरूप होनेसे 'आनन्द' है । तथा 'आनन्द' भी एक परिपूर्ण आनन्द है, अतः 'सत्' तत्त्व उनसे कोई अलग वस्तु नहीं और वह आनन्द केवल ज्ञानस्वरूप होनेसे 'चेतन' तत्त्व भी उससे कोई अलग चीज नहीं; क्योंकि परमात्माका ज्ञान होनेसे परम शान्ति

तत्काल हो जाती है (गीता ४ । ३९) तथा किसी भी विषयको हम जितना ही समझते हैं, उतना ही आनन्द उसे जाननेके साथ भी उत्पन्न हो जाता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जानना और आनन्द—दो चीजें नहीं एक ही हैं । इसी प्रकार सात्त्विक आनन्द बहुत बढ़ जानेसे उस तत्त्वका ज्ञान भी अपने-आप ही हो जाता है (गीता २ । ६५); क्योंकि वह आनन्द ही ज्ञानस्वरूप है । वहाँ उस ज्ञान-आनन्दकी सत्ता होनेसे वह स्वतःसिद्ध तो है ही । एवं परमात्माकी सत्ताका दृढ़ निश्चय हो जानेपर भय, अशान्ति आदि सब मिटकर साधकको परम आनन्द और परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है और वह शीघ्र ही परमात्माका यथार्थ तत्त्व जान जाता है । इसीलिये सच्चिदानन्दस्वरूपसे निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन किया जाता है ।

सगुण निराकार-तत्त्व

सच्चिदानन्दघन निर्गुण पूर्ण ब्रह्म परमात्माके किसी एक अंशमें प्रकृति है, उस प्रकृतिसे युक्त होनेसे ही उस पूर्णब्रह्म परमात्माको सगुण चेतन सृष्टिकर्ता ईश्वर कहते हैं, वही आदिपुरुष पुरुषोत्तम, मायाविशिष्ट ईश्वर आदि नामोंसे कहा जाता है । प्रकृतिको लेकर ही उसमें समस्त जीवोंकी स्थिति है । प्रकृति उस परमात्माकी एक अलौकिक दिव्य शक्ति है । उस शक्तिको लेकर ही परमात्मा सम्पूर्ण सृष्टिका सृजन, पालन और संहार किया करते हैं । वे ही मायापति परमात्मा परिपूर्ण सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दस्वरूप होते हुए भी वस्तुओंमें अस्ति, भाति और प्रियरूपसे प्रतीत होते हैं ।

अग्निकी सत्ता सभी जगह सामान्यरूपसे विद्यमान है, परंतु उसमें दाहिका और प्रकाशिका शक्ति विद्यमान रहते हुए भी समय-समयपर ही प्रकट होती हैं। काठ, दियासलाई आदि सबमें एक सत्ता ही प्रतीत होती है, चन्द्रमामें सत्ता और प्रकाश—दोनों प्रत्यक्ष दीखते हैं और सूर्यमें सत्ता, प्रकाश तथा दाह—तीनों प्रकटरूपसे दीखते हैं। इसी प्रकार भूत, भौतिक, जड़, चेतन, स्थावर, जङ्गम—सभीमें परमात्माकी सत्ता तो सामान्यरूपसे प्रतीत हो रही है; पर चितिशक्तिका प्रकाश विशेषतासे प्राणियोंमें ही देखा जाता है, जड़ चीजोंमें नहीं एवं आनन्दकी प्रतीति तो ज्ञानी महात्माओंमें ही विशेषरूपसे प्रकट है, अन्य जगह वह लुप्त ही है। तमोगुणके कार्य जड़ पदार्थोंमें भी सत्ता तो प्रकट है; किंतु तमोगुणकी अधिकता होनेके कारण वहाँ चिदंश और आनन्दांश तिरस्कृत हैं। तथा सजीव प्राणियोंमें सत्ता और चेतनता प्रत्यक्ष दीखते हुए भी अज्ञातरूप तमोगुण और चञ्चलतारूप रजोगुणकी अधिकताके कारण वहाँ आनन्दांश तिरस्कृत है। जहाँ साधनके द्वारा रजोगुण-तमोगुण अंश दूर कर दिये गये हैं, वहाँ महात्मा पुरुषोंमें सत्, चित्, आनन्दघन परब्रह्म परमात्माका स्वरूप प्रकटरूपसे विद्यमान है।

अस्ति-तत्त्व

संसारमें जो जड पदार्थोंकी सत्ता दीख रही है, उनका होना सिद्ध हो रहा है, वह उसी परमात्मासे है। उनको द्योतन करनेवाला सत्-तत्त्व ही पदार्थोंके सम्बन्धसे 'सत्' की अपेक्षा स्थूल होनेसे अ स्तखरूपसे कहा जाता है।

संसारमें जितनी भी जड वस्तुएँ हैं, वे सब उत्पन्न होती हैं, बीचमें सत्तारूपसे दीखती हैं, बढ़ती हैं, परिवर्तित होती हैं, क्षीण होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। उन उत्पत्ति-विनाशशील सम्पूर्ण वस्तुओंमें जो एक सत्ता प्रतीत होती है, वही अस्तिरूपसे कही जाती है। यहाँ यह समझनेकी बात है कि किसी एक पदार्थको लेकर उसकी उत्पत्तिके बाद जो उसका अस्तित्व दीखता है, वह तो उस पदार्थके नष्ट होनेपर नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह विकार है। पर उन पदार्थोंके अभाव हो जानेपर भी सब वस्तुओंमें सामान्य रीतिसे जो एक होनापना प्रतीत होता है, वह होनापना ही असली अस्तिस्वरूप है। वह अस्तिस्वरूप नित्य विद्यमान रहता है। जैसे 'यह मनुष्य है', 'यह पक्षी है', 'यह देश है'—इन सबमें 'है' अनुस्यूत है। वस्त्रमें धागा सर्वत्र एक है। मिट्टीके बरतनोंमें मिट्टी सबमें एक है। इसी तरह यह अस्तित्व सबमें अनुस्यूत है। यह सर्वत्र व्यापक है, परिपूर्ण है। जब घड़ा फूट जाता है तो घड़ेका अभाव होनेपर भी उसके टुकड़े तो रहते ही हैं। ऐसे ही पदार्थोंका अभाव होनेपर भी उनका रूपान्तरमें अस्तिपना वैसे ही वर्तमान रहता है।

इसलिये जो भी उत्पत्ति-विनाशवाली वस्तुएँ हैं, उन सबमें जो सत्ता प्रतीत होती है, वह वस्तुतः उन चीजोंका आधार है, पर दीखनेमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह चीज पहले है और बादमें उसकी सत्ता है। यही तो परमात्माकी दिव्य प्रकृतिकी अविद्या—मायाशक्तिका विलक्षण परदा है।

भाति-तत्त्व

जो सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ दीखती हैं, उनका अनुभव होता है—यह भाति है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान—सबमें सत्ता प्रतीत हो रही है। एक पदार्थका होना सत्ता है और उसका दीखना, अनुभव होना भाति है। विदेशकी वस्तुएँ यहाँ नहीं दीखतीं; पर 'वहाँ वह चीज है' इस प्रकार सामान्य भाव तो बुद्धिमें आता ही है तथा साथ ही उन वस्तुओंका न जाना जाना भी प्रतीत हो ही रहा है। जिससे सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतीति होती है, वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, उसे भाति-तत्त्व कहते हैं। यह परमात्माका निर्गुण चित्-तत्त्व ही मायाके सम्बन्धसे प्रकाशरूपसे प्रतीत हो रहा है। यह प्रकाश महत्तत्त्वके मिश्रणसे सामान्य ज्ञानस्वरूप है, जिसमें कि घट-पटादि समस्त पदार्थोंका भान हो रहा है। पदार्थोंका ज्ञान-अज्ञान, लौकिक प्रकाश और अन्धकारका ज्ञान, वस्तुओंका भाव-अभाव, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—इन अवस्थाओंका ज्ञान-अज्ञान—ये सभी जिस एक बुद्धितत्त्वसे प्रकाशित हो रहे हैं, समझनेमें आ रहे हैं। वह निर्गुण परमात्माका चित्-तत्त्व ही महत्तत्त्वको लेकर भातिरूपसे कहा जाता है। वह भाति-तत्त्व महत्तत्त्वका सम्बन्ध होनेके कारण चित्-तत्त्वकी अपेक्षा स्थूल है।

इसमें भी अस्तिकी भाँति वस्तुओंका ज्ञान वस्तुओंके बाद प्रतीत होता है, पर वास्तवमें वस्तुओंके ज्ञान और अज्ञान दोनोंको ही यह भाति-तत्त्व सामान्यरूपसे निरन्तर प्रकाशित कर रहा है। यही सगुण परमात्माका 'भाति' रूप है।

प्रिय-तत्त्व

संसारके पदार्थ मनको अच्छे लगते हैं, यह अच्छा लगना ही 'प्रिय' है। वस्तुमात्रमें ही एक प्रियता प्रतीत हो रही है; क्योंकि उपयोगी होनेके कारण वह किसी-न-किसीके लिये प्रिय है ही। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, चाहे वह निकृष्ट-से-निकृष्ट ही क्यों न हो; जो किसी एकको भी प्रिय न हो। पदार्थोंमें जो यह सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण है, वह सब वास्तवमें परमात्मासे ही है, परंतु दीखता है पदार्थोंमें। यही माया शक्तिके आवरणकी विलक्षणता है। वस्तुतः पदार्थोंमें सुन्दरता, प्रियता और आकर्षण नहीं है। सारे पदार्थ उस परमात्मामें ही अध्यारोपित हैं और उस परमात्माका आनन्दस्वरूप ही मायाशक्तिके साथ मिला हुआ होनेसे पदार्थमात्रमें प्रियरूपसे अनुभूत होता है।

अस्ति, भाति, प्रियकी एकता

संसारमें यावन्मात्र जो भी वस्तुएँ प्रतीत हो रही हैं, उनमें परस्पर भेद होनेपर भी अस्ति, भाति, प्रियरूपका उनमें एकरूपसे अनुभव हो रहा है। वस्तुगत भेद होनेपर भी अस्ति, भाति, प्रिय तत्त्वका भेद नहीं है। वस्तुगत अस्तितत्त्व ही प्रतीत हो रहा है और वास्तवमें वही प्रियरूप है और भाति यानी प्रतीतिमात्रमें जो एक आनन्दकी अनुभूति होती है यही प्रियता है; वहाँ भी अस्तित्व तो है ही। जहाँ प्रियता है वहाँ भी प्रतीति और अस्तित्व मौजूद ही हैं। अतः अस्ति, भाति, प्रिय—ये तीनों कोई अलग-अलग विशेषण या शक्ति-विशेष नहीं हैं, किंतु वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही प्रकृतिको लेकर अस्ति-भाति-प्रियरूपसे प्रतीत हो रहा है। इसके अन्तर्गत दीखनेवाले नाम-रूप-आकारवाले

संसारकी उपेक्षा करके इसके आधारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी उपासना करनेसे साधक कृतकृत्य हो जाता है ।

सगुण-साकार-तत्त्व

वे निर्गुण-सगुण सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी पूर्णब्रह्म परमात्मा वास्तवमें जन्म-मृत्युसे सर्वथा रहित होनेपर भी जब आवश्यकता समझते हैं तब अपनी दिव्य प्रकृतिको लेकर सगुण साकार-रूपसे प्रकट होते हैं (गीता ४ । ६) । वे परम दयालु भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंका उद्धार करने, उनके इच्छानुसार उन्हें दर्शन देकर, उनके साथ लीला करके उन्हें परम आनन्दित करने, अपने दर्शन आदिके द्वारा लोगोंके समस्त पापोंका समूल विनाश करने, अपने दिव्य गुण, प्रभाव, नाम, रूप, लीला, तत्त्व और रहस्यका विस्तार करके उनके श्रवण, मनन, पठन, चिन्तन, कीर्तन आदिके द्वारा सम्पूर्ण लोगोंके लिये आत्मोद्धारका मार्ग खोल देने, दुष्ट-दुराचारी मनुष्योंकी बुरी आदत छुड़ाने और उन्हें दण्ड देकर अथवा मारकर पापोंसे मुक्त करनेके लिये लीला-विग्रह धारण करते हैं । वे वेद-शास्त्रानुकूल आचरणके द्वारा धर्मका महत्त्व दिखलाकर, अपनी अलौकिक अप्रतिम दिव्य प्रभावशालिनी वाणीके द्वारा धर्मके तत्त्वका उपदेश देकर, सम्पूर्ण मनुष्योंके अन्तःकरणमें वेद, शास्त्र, धर्म, परलोक, महात्मा और अपनेपर श्रद्धा उत्पन्न कराकर, सदाचार-सद्गुण और सद्भावोंमें विश्वास-प्रेम उत्पन्न कराकर तथा लोगोंको उन्हें दृढ़तासे धारण कराकर संसार-सागरसे उनका उद्धार करनेके लिये राम, कृष्ण, नृसिंह आदि स्वरूपोंसे प्रकट होते हैं (गीता ४ । ८) ।

भगवान्‌का अवतार-विग्रह दिव्य, अलौकिक और अद्भुत होता है। वे परमात्मा मायाके वशमें होकर जन्म नहीं लेते; किंतु अपनी विद्यामयी प्रकृतिको अपने वशीभूत करके योगमायासे प्रकट होते हैं। यह भगवान्‌का प्रकट होना जीवोंके जन्मकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण और दिव्य है। जगत्‌के सभी चराचर जीव अपने गुण, कर्म, स्वभावके वशमें हुए प्रारब्धानुसार सुख-दुःखादि भोग भोगनेके लिये जन्म लेते हैं; परन्तु परमात्मा किसीके भी वशमें न होकर अपनी इच्छासे केवल जीवोंपर अहैतुकी कृपा करके ही अवतरित होते हैं। इस प्रकार ईश्वरका प्रकट होना उनकी आनन्दमयी लीला है और जीवोंका जन्म लेना दुःखमय है। भगवान् प्रकट होनेमें सर्वथा स्वतन्त्र हैं और जीव जन्म लेनेमें सर्वथा परतन्त्र हैं। ईश्वरके अवतरित होनेमें केवल उनकी अहैतुकी कृपा ही कारण है और जीवोंके जन्ममें हेतु उनके शुभाशुभ कर्म हैं।

विग्रह-तत्त्व

वे सर्वत्र परिपूर्ण सत्स्वरूप परमात्मा ही दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं। भगवान्‌का वह दिव्य विग्रह अलौकिक, अद्भुत और विलक्षण है (गीता ४ । ९) और वे परमात्मा अपनी पूर्ण शक्तिसे ही प्रकट होते हैं। उनका साकार विग्रह एक देशमें प्रकट दीखनेपर भी वे वास्तवमें न तो दूसरे देशसे हट जाते हैं और न एक देशमें सीमाबद्ध ही हो जाते हैं। वे जीवकी तरह शरीरधारी नहीं होते। उनके विग्रहमें देह-देहीभाव नहीं है, उनका वह विग्रह दिव्य चिन्मयस्वरूप ही है, जिसका यथार्थ अनुभव दिव्य नेत्रवाले भक्तोंको होता है, दूसरोंको नहीं।

चिदानंदमय देह तुम्हारी । विगत बिकार जान अधिकारी ॥

भगवान्‌ने भी कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
(गीता ७ । २५)

'अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझे जन्मरहित अविनाशी परमात्मा नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है ।'

जीवोंके शरीर तो अनित्य, पापमय, रोगग्रस्त, लौकिक, विकारी, पाञ्चभौतिक और रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले होते हैं और परमात्माका वह साकार विग्रह नित्य, पाप-पुण्यसे रहित, अनामय, अप्राकृत, विकाररहित, विशुद्ध परम दिव्य और प्रेममय होता है; अन्य जीवोंकी अपेक्षा तो देवताओंका शरीर भी दिव्य होता है; परंतु भगवान्‌का स्वरूप उससे भी अति दिव्य विलक्षण होता है, जिसका देवतालोग भी दर्शन चाहते रहते हैं (गीता ११ । ५२) ।

भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्ण जब इस धरातलपर अवतरित हुए; उस समय वे माता कौसल्या और देवकीके गर्भसे उत्पन्न नहीं हुए । पहले उनको अपने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी स्वरूपका दर्शन देकर फिर वे ही माताकी प्रार्थनासे बालरूपमें लीला करने लगे ।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी ।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्‌भुत रूप बिचारी ॥

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ॥
माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा ।
कीजै सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा ।
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा ॥
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।
शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३ । ३०)

माता देवकीने कहा—'विश्वात्मन् ! शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मकी शोभासे युक्त इस चार भुजाओंवाले अपने अलौकिक—दिव्यरूपको अब छिपा लीजिये ।'

जब भगवान् श्रीराम परमधाम पधारने लगे, उस समय वे अन्तर्धान हुए थे । मनुष्य-देहकी भाँति उनका देह यहाँ नहीं रहा, वे इसी शरीरसे वैकुण्ठधाममें चले गये ।

पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः ।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः ॥
(वा० रा० उत्तरकाण्ड ११० । १२)

'महामति भगवान्‌ने पितामह ब्रह्माजीके वचन सुनकर और तदनुसार निश्चय कर तीनों भाइयोंसहित अपने उसी शरीरसे वैष्णव-तेजमें प्रवेश किया ।'

भगवान् श्रीकृष्णके लिये भी ऐसे ही वचन मिलते हैं ।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३१ । ६)

'धारणा और ध्यानके लिये अति मङ्गलरूप अपनी लोकाभिरामा मोहिनी मूर्तिको योग-धारणाजनित अग्निके द्वारा भस्म किये बिना ही भगवान्‌ने अपने धाममें प्रवेश किया।'

भगवान्‌के सृष्टिके सृजन, पालन, संहार आदि तथा अपने अवतारलीला आदि जितने भी कर्म होते हैं, वे सभी परम दिव्य, उज्ज्वल, प्रकाशमय, आनन्दमय, विशुद्ध एवं अलौकिक होते हैं। भगवान्‌के समान कर्म साधारण मनुष्य तो कर ही क्या सकता है; ऋषि, मुनि, देवता और महात्मा भी नहीं कर सकते। जीवन्मुक्त और कारक पुरुषोंकी भी क्रियाएँ भगवान्‌की-जैसी नहीं होतीं। भगवान्‌के कर्म इन सभीकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण और अद्भुत होते हैं, वैसे कर्म चाहे कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो नहीं कर सकता। कारण यह है कि अन्य लोगोंमें शक्ति, विद्या, प्रभाव, ऐश्वर्य आदि परिमित होते हैं और वे भी भगवान्‌के दिये हुए तथा उस सर्वशक्तिस्रोतके अंशमात्रसे ही प्रकाशित होते हैं। अतः उन सर्वैश्वर्यसम्पन्न अमित प्रभावशाली भगवान्‌के कर्म उन सबकी अपेक्षा सब प्रकारसे विलक्षण, दिव्य और अद्भुत होते हैं।

भगवान्‌में अज्ञता, जडता, भूल, आलस्य, प्रमाद, असावधानी, भ्रम आदि किसी भी दोषकी तनिक भी सम्भावना न होने तथा ज्ञान, चेतनता, सावधानी और विज्ञता आदिके स्वाभाविक ही अविचलरूपसे नित्य विद्यमान रहनेके कारण उनके कर्म अत्यन्त ही उज्ज्वल होते हैं।

इसलिये उनके लीला-कर्मोंका तथा गीतादि परम रहस्यमय

उपदेशोंका संसारमें जितना ही श्रवण, मनन, पठन, कथन, कीर्तन आदिके द्वारा विस्तार किया जाता है, उतना ही प्राणिमात्रके हृदयमें अज्ञान, अन्धकार, जडता आदिका विनाश होकर परम दिव्य प्रकाशमय ज्ञानका साम्राज्य छा जाता है। जब लोगोंके हृदयमें भी उनके लीलाकर्म और उपदेशके श्रवणादिसे इतना दिव्य प्रकाश छा जाता है, तब फिर उनके स्वयं परम दिव्य प्रकाशमय होनेमें तो सन्देह ही क्या है ?

वे प्रेममय भगवान् जिनके साथ जो कुछ भी व्यवहार करते हैं उसमें निष्काम प्रेम और अहैतुकी कृपा भरी रहनेके कारण जिनके साथ व्यवहार किया जाता है, वे प्राणी परम आह्लादित हो जाते हैं। भगवान् जिस तरफ देखते हैं वह सारी दिशा प्रेम और आनन्दमय बन जाती है। उनकी देखी हुई वस्तुओंमें, उनकी क्रीड़ा की हुई भूमिमें इतना आनन्द और प्रेम भरा हुआ है कि हजारों-लाखों वर्षोंतक उनसे लोगोंको परम लाभ होता रहता है। भावुक प्रेमी भक्त उन लीलास्थलियोंमें निवास करते हैं और जन्म-मरणादि सांसारिक दुःखोंसे सर्वथा मुक्त होकर उस परमानन्दका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जो भगवान्के अनुकूल होकर प्रेम रखते हुए श्रद्धा-बुद्धिसे उनके दर्शनादि करते हैं, उनके आनन्दलाभमें तो कहना ही क्या है; जो द्वेषभावसे भगवान्से विरोध रखकर विपरीत आचरणोंमें ही लगे रहते हैं, उनको भी भगवान् दयापरवश हो अपने हाथोंसे मारकर अपना परम दिव्य आनन्दमय धाम प्रदान करते हैं।

उनकी मारने आदि क्रियाओंमें भी परम कल्याण भरा रहता है; इसलिये उनकी सम्पूर्ण क्रियामात्र ही आनन्दमय है ।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके ।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥

'जिस प्रकार माताकी बालकपर उसके पालन करने और ताड़ना देनेमें कहीं अकृपा नहीं होती; उसी प्रकार गुण-दोषोंपर नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती ।'

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्‌के सभी कर्म निःस्वार्थभावसे होते हैं, उनमें कहीं भी जरा भी स्वार्थ नहीं होता । केवल प्राणियोंपर अकारण करुणा करनेके लिये ही वे निःस्वार्थभावसे कर्मोंका आचरण किया करते हैं । उनको अपने लिये कुछ भी कर्तव्य अथवा प्राप्तव्य नहीं होता, तो भी वे लोकसंग्रहार्थ—जगत्‌के हितके लिये ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं । भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
(३ । २२)

'हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ ।'

भगवान्‌के कर्मोंमें अपना निजी कोई स्वार्थ या कामना नहीं होती । उनके कर्म निर्मल पापरहित होते हैं । उनके उपदेश, भाव और आचरणोंका अनुकरण करनेसे पापी-से-पापी भी परम

विशुद्ध तरन-तारन बन जाता है। इसलिये भगवान्‌के कर्म परम विशुद्ध और निर्विकार होते हैं।

भगवान्‌के कर्म अलौकिक होते हैं। जहाँ देवताओंकी भी कल्पना नहीं पहुँच पाती और जो बिल्कुल असम्भव होते हैं, उन कर्मोंको भी वे सम्भव कर दिखाते हैं। उनकी तो माया ही अघटनघटनापटीयसी है, फिर उन मायाके एकमात्र अधीश्वर परमात्माके कर्म सर्वथा अलौकिक हों, इसमें तो कहना ही क्या है?

जैसे सर्वत्र परिपूर्ण सामान्य अग्नि साधनोंसे साकाररूपमें प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार वह सर्वत्र अस्तिरूपसे प्रतीत होनेवाला निर्गुण सत्तत्त्व ही अपनी अहैतुकी कृपा और भक्तोंके प्रेमके वश होकर दिव्य विग्रहरूपमें प्रकट होता है।

प्रकाश-तत्त्व

भगवान्‌के विग्रहका प्रकाश दिव्य होता है। वह निर्गुण सर्वव्यापी चिन्मयस्वरूप ही स्थूलरूपसे प्रकाशरूपमें आता है। वह प्रकाश प्राकृत नेत्रोंका विषय नहीं होता, दिव्य चक्षुसे ही देखा जा सकता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(गीता ११।८)

'परंतु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसन्देह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ; उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख।'

यद्यपि अवतारके समय भगवान्‌का विग्रह सबके सामने होनेसे सभीको उनके दर्शन होते हैं; परंतु उनको दर्शन होते हैं योग-मायासमावृत साधारण मनुष्यरूपके ही, दिव्यरूपके नहीं।

भगवान्‌का वह दिव्यप्रकाश सूर्य, चन्द्रमा आदिके प्रकाशसे अत्यन्त महान् और विलक्षण होता है। सञ्जयने गीतामें कहा है—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥
(११।१२)

'आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो।'

जैसे सूर्यका प्रकाश होता है; भगवान्‌के विग्रहका भी उसी तरह प्रकाश होता है; किंतु उसमें तीक्ष्णता, उष्णता और दुर्निरीक्ष्यता नहीं होती। भगवान्‌के विग्रहका प्रकाश सूर्यसे भी बहुत अधिक होता है, किंतु सूर्यकी तरह तीक्ष्णता नहीं होती; वह तो चन्द्रमाकी तरह नहीं, चन्द्रमासे भी अत्यन्त विलक्षण सौम्य, शान्त, शीतल और नेत्राकर्षक होता है। वास्तवमें वह सूर्य-चन्द्रमा-जैसा ही नहीं है और न उसे सूर्य-चन्द्रमा प्रकाशित ही कर सकते हैं, भगवान्‌का प्रकाश इनसे बहुत विलक्षण होता है। भगवान् कहते हैं—

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम॥
(गीता १५।६)

'जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते—उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम है (जो कि भगवत्स्वरूप ही है) ।'

वास्तवमें सूर्य-चन्द्रमा आदि भी तो भगवान्‌के प्रकाशसे ही प्रकाशित होते हैं, तब वे उसे कैसे प्रकाशित कर सकते हैं ? क्योंकि उनमें वह तेज भी भगवान्‌का ही तेज है ।

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥

(गीता १५ । १२)

'सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उसको तू मेरा ही तेज जान ।'

सूर्य, चन्द्रमाका प्रकाश तो पार्थिव पदार्थोंसे आवृत हो जाता है, अतः उससे छाया भी पड़ती है; परंतु भगवद्विग्रहका प्रकाश, चाहे पहाड़ भी बीचमें क्यों न आ जाय, आवृत नहीं होता और न उससे छाया ही पड़ती है । वह प्रकाश दिव्य चिन्मय होता है और सूर्य-चन्द्रका प्रकाश भौतिक होता है ।

चितिशक्ति स्वयं आत्मस्वरूप है । वह बुद्धितत्त्वसे जाननेपर ज्ञानरूपसे प्रतीत होती है और वही नेत्ररूपसे दीखनेपर प्रकाशरूपसे प्रकट दीखने लगती है, तत्त्वतः वह चिति, भाति और प्रकाश एक ही वस्तु है ।

प्रेम-तत्त्व

वे निर्गुण आनन्दमय सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा ही प्रेमरूपसे साकार विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं । परमात्माका प्रेम बड़ा विलक्षण है । परमात्माका दिव्य विग्रह प्रेममय होता है, जिसके दर्शन करनेसे खर, दूषण, जरासन्ध-जैसे विरोधी जीवोंके भी चित्त उस ओर जबरन् खींचे जाते हैं । उनके उस प्रेममय विग्रहमें विलक्षण आकर्षण होता है । जहाँ भगवान्‌की कथा होती है, लीला-विग्रह आदिका वर्णन होता है, वहाँ भी प्रेम, आनन्द और शान्तिकी बाढ़-सी आ जाती है, सर्वत्र परम शान्तिमय वातावरण छा जाता है । उस वर्णनको सुनकर श्रद्धालु प्रेमियोंका हृदय प्रेमसे तर हो जाता है । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है, कण्ठ गद्गद हो जाते हैं, वाणी रुक जाती है और समस्त अङ्ग पुलकित हो उठते हैं । इस प्रकार भक्त प्रेममें मतवाले हो जाते हैं । महात्मा श्रीनन्ददासजी कहते हैं—

> कृष्ण नाम जब ते मैं श्रवण सुन्यो री आली !
> भूली री भवन मैं तौ बावरी भई री ।

जब उसकी कथा-वार्ता सुननेसे ही इतना असर पड़ता है, तब वह स्वयं कितना प्रेममय है—इसका अनुभव तो परम प्रेमास्पद भगवान्‌के दर्शन किये हुए सच्चे प्रेमी भक्त ही कर सकते हैं; पर वे भी उस प्रेमका वर्णन करनेमें अपनेको असमर्थ ही पाते हैं । प्रेमका स्वरूप वर्णन करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।' 'मूकास्वादनवत् ।' 'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।'

(नारदभक्तिसूत्र ५१-५२, ५४)

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है । गूँगेके स्वादकी भाँति उसका वर्णन नहीं हो सकता । यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है ।

जो इस प्रेमके तत्त्वको जान जाता है, वह स्वयं प्रेममय बन जाता है । उसे प्रेम-ही-प्रेम दीखता है, प्रेममय भगवान्‌के सिवा उसे अन्य कोई वस्तु नजर ही नहीं आती ।

यह भगवत्प्रेम वाणीका विषय नहीं है । संसारमें स्त्री, पुत्र, धन, शरीर, मान-बड़ाई, आदिके प्रति जो प्रेम देखनेमें आता है, वह तो प्रेम ही नहीं है, राग है । राग और प्रेममें महान् अन्तर है । राग रजोगुणी है और प्रेम गुणातीत है, गुणोंके दायरेसे परेकी वस्तु है । रागमें अपने इन्द्रियोंकी तृप्ति और अपना स्वार्थ रहता है; प्रेममें केवल प्रेमास्पदका आनन्द, उसकी प्रसन्नता और अपने स्वार्थका सर्वथा त्याग रहता है । रागके विषय जड, भोगरूप पदार्थ होते हैं, परंतु प्रेमके विषय साक्षात् चिन्मय परमात्मा होते हैं, जड पदार्थ नहीं । जीवोंसे जो प्रेम किया जाता है, उसका भी विषय चेतन ही होता है; क्योंकि प्रेम स्वयं चिन्मय है; पर जहाँ केवल जड शरीर-की ओर आकर्षण होकर प्रेम होता है, वह प्रेम नहीं, वह तो राग ही कहलाता है । हाँ, वह भी यदि स्वार्थत्यागपूर्वक केवल उसके हितके लिये ही किया जाता है तो प्रेम ही कहा जाता है । अवश्य ही महापुरुषोंसे जो प्रेम किया जाता है वहाँ यदि शरीरमें

आकर्षण होकर प्रेम होता है तो भी, वह शरीर अन्य शरीरोंकी अपेक्षा अत्यन्त विलक्षण होने तथा वहाँ अपना लौकिक स्वार्थ न होनेके कारण, वह प्रेम ही माना जाता है। उसका ध्येय पारमार्थिक सत्य वस्तु है, अतः वह प्रेम शरीरको लेकर होनेपर भी दोषी नहीं है तथा भगवान्‌में जो कामनासिद्धिके लिये प्रेम किया जाता है, वह भी यद्यपि जड वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये ही है, तो भी भगवान्‌से सम्बन्ध होनेके कारण वह मुक्तिप्रद ही होता है। भगवान्‌ने कहा है—'मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता ७ । २३)—'मेरे भक्त मुझे चाहे जिस भावसे भजें, अन्तमें वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।' और उनकी कामना भी पूर्ण हो जाती है अथवा मिट जाती है। मतलब यह है कि महात्माओंका शरीर प्राकृत होनेपर भी उनसे निःस्वार्थ प्रेम करनेवालेका ध्येय चेतन है तथा भगवान्‌से सकाम प्रेम करनेवालेका ध्येय जड पदार्थ होनेपर भी भगवान्‌का विग्रह चेतनस्वरूप है—यहाँ एक अंशमें कमी रहनेपर भी दोनों ही जगह चेतनका सम्बन्ध होनेसे वह प्रेम ही कहा जाता है और उससे निःसन्देह कल्याण हो जाता है। पर असली प्रेम तो वह है जो जडतारहित, ज्ञानपूर्ण, निष्कलङ्क, निःस्वार्थ, परमशुद्ध और केवल प्रेमके लिये ही होता है। यह प्रेम रागकी समाप्ति होनेके बाद जाग्रत् होता है और वैराग्यकी ऊँची-से-ऊँची स्थिति होनेपर आरम्भ होता है।

वह प्रेम रसमय, आनन्दमय, प्रकाशमय, त्यागरूप, दिव्य और परम शान्तिरूप है। उसमें दुःख, विक्षेप, जलन, चिन्ता,

उद्वेग, भय आदिका लेश भी नहीं है, प्रेम और भगवान् वस्तुतः दो नहीं, एकरूप ही हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान्के दर्शन होनेपर प्रेम हो ही जाय, यह सर्वत्र अबाधित नियम नहीं है; पर प्रेम होनेपर तो भगवान् मिल ही जाते हैं। इसलिये प्रेमकी कीमत भगवान् भी नहीं हैं, बल्कि भगवान्की ही कीमत प्रेम है अतः प्रेम भगवान्से भी बढ़कर है। इसलिये दिव्य प्रेमको प्राप्त किये हुए भगवद्भक्त भगवान्के दर्शनोंकी भी परवा नहीं करते, बल्कि भगवान् ही उन भक्तोंकी चाह किया करते हैं।

प्रेम बड़ी ही अलौकिक वस्तु है। वह द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेद, सबसे निराला, विलक्षण अलौकिक तत्त्व है। प्रेम और आनन्द वस्तुतः एक ही वस्तु हैं। क्योंकि प्रेम होनेपर ही आनन्द होता है और जहाँ आनन्द होता है, वहीं प्रेम होता है।

सबकी एकता

सत्-रूप परमात्माका जो होनापना है, जो सामान्यरूपसे सर्वत्र सर्वदा परिपूर्ण है, वही कृपापरवश हो भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये श्रीविग्रहरूपसे प्रकट होता है और जो सामान्य चिन्मय ज्ञानस्वरूप परमात्मा है, वही श्रीविग्रहके प्रकाशरूपसे प्रकट होता है तथा जो निरतिशय आनन्दघन परमात्मा है, वही श्रीविग्रहमें प्रेमरूपसे प्रकट होता है। जैसे सत्, चित्, आनन्द—ये तीनों शब्दतः अलग-अलग होनेपर भी वस्तुतः एक ही हैं और परमात्माके स्वरूप ही हैं, उसके कोई विशेषण या उपाधि नहीं, उसी तरह साकार परमात्मा उसका प्रकाश तथा प्रेम भी कोई भिन्न-भिन्न चीजें नहीं हैं।

प्रेम हरीको रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होय द्वोमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

तत्त्व-विवेचन

इस प्रकार परमात्माके सच्चिदानन्दघन निर्गुण-निराकार, अस्ति-भाति-प्रियरूप सगुण निराकार, दिव्य विग्रह, प्रकाश और प्रेममय सगुण साकार स्वरूपका तथा उन सबकी एकताका कुछ संकेत कराया गया। अब इनकी एकताके प्रतिपादक गीताके निम्न श्लोककी कुछ व्याख्या की जाती है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

भगवान् कहते हैं—'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

इस श्लोकमें भगवान्ने छः बातें कही हैं—तीन अपने स्वरूपके सम्बन्धमें, दो प्रकृतिके सम्बन्धमें और एक अवतार लेनेके सम्बन्धमें। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

मैं (१) अजन्मा होते हुए भी, (२) अविनाशीस्वरूप होते हुए भी, (३) समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी, (४) अपनी प्रकृतिको अधीन करके, (५) अपनी योगमायासे, (६) प्रकट होता हूँ।

इन छहोंमेंसे 'अजन्मा' और 'अविनाशी' होते हुए भी—ये दो तो निर्गुण निराकारके तथा 'समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए

भी,—यह सगुण निराकारका एवं 'अपनी प्रकृतिको अधीन करके'—यह भगवान्‌के श्रीविग्रहके तत्त्वका द्योतक है । 'प्रकट होता हूँ'—इससे अपने साकाररूपसे प्रकट होनेकी बात कही है । ऐसे साकाररूपसे प्रकट होनेपर भी अभक्त उन्हें नहीं जान पाते; क्योंकि भगवान् योगमायासमावृत रहते हैं—यह बात भगवान्‌ने 'अपनी योगमायासे'—इस पदके द्वारा व्यक्त की है ।

भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित रहते हुए ही जन्म लेते हैं अर्थात् प्रकट होते हैं । जन्म लेनेपर भी भगवान्‌के 'अज'पनेमें कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं होती । भगवान् अव्ययात्मा यानी परिवर्तन, क्षय, विनाश आदि विकारोंसे सर्वथा रहित रहते हुए ही लोगोंके सामनेसे अन्तर्धान हो जाते हैं; किंतु अन्तर्धान हो जानेपर भी वे कहीं नष्ट नहीं हो जाते । इसी प्रकार प्राणिमात्रके एकमात्र महान् शासक—ईश्वर रहते हुए ही वे किसी देशविशेषमें माता-पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले नाम-रूपविशिष्ट बालक बन जाते हैं; परंतु बालक बन जानेपर भी उनके शासकत्वमें कोई भी कमी नहीं आती । वे ही भगवान् अपनी प्रकृतिको अधीन करके प्रकट होते हैं; किंतु इस प्रकार प्रकट होनेपर भी वे प्रकृतिके परतन्त्र नहीं हो जाते, बल्कि प्रकृति तो उनके अनुकूल चलनेवाली उनकी दासी ही रहती है । वे नित्य ज्ञानस्वरूप भगवान् अपने ऊपर योगमायाका परदा रखकर प्रकट होते हैं, पर भगवान्‌का दिव्य ज्ञान उससे जरा भी आवृत नहीं होता । प्रेमी भक्तोंके लिये भी वह परदा नहीं रहता, वे तो उनके चिन्मय स्वरूपका दर्शन कर ही लेते हैं । इस आवरणसे तो भगवान्‌की भक्तिसे रहित मूढ़लोग ही उन्हें नहीं जान पाते ।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने अपने निर्गुण निराकार, सगुण निराकार एवं सगुण साकार स्वरूपकी एकता की है। भगवान् श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि वह निर्गुण सच्चिदानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मा मैं ही हूँ और मैं ही समय-समयपर साकाररूपमें प्रकट होता हूँ। गीतामें कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४। २७)

'उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने जिन-जिन रूपोंका वर्णन किया है, उनमेंसे अगर एक भी रूपके तत्त्वका ज्ञान हो जाय तो मनुष्य जीवन्मुक्त और कृतकृत्य हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें अपने किसी एक रूपको भी जाननेवालेको असम्मूढ़—ज्ञानवान् और न जाननेवालेको मूढ बतलाया है, यह बात नीचे लिखे उद्धरणोंसे स्पष्ट की जाती है।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(गीता १०। ३)

यहाँ भगवान्‌ने अपने 'अज'—जन्मरहित रूपको जाननेवालेका सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होना बतलाया है तथा उसे सब मनुष्योंमें असम्मूढ—ज्ञानवान् बतलाया है।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।
(गीता ७। २५)

यहाँ 'अज' नहीं जाननेवालेको मूढ़ कहा है ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

(गीता ९ । १३)

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(गीता १५ । १७, १९)

यहाँ भगवान्‌ने 'अव्यय' स्वरूपके जाननेवालेको असम्मूढ—ज्ञानवान् और सर्ववित् बतलाया है ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(गीता ७ । २४-२५)

इन श्लोकोंमें 'अव्यय' स्वरूपके न जाननेवालेको बुद्धिहीन और मूढ कहा गया है ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५ । २९)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(गीता १० । ३)

यहाँ 'सर्वलोकमहेश्वर' रूपके जाननेवालेको शान्तिकी प्राप्ति बतलायी है और उसे असम्मूढ कहा गया है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(गीता ९ । ११)

यहाँ 'भूतमहेश्वर' रूपको न जाननेवालेको मूढ बतलाया है ।

यहाँ इस चौथे अध्यायके छठे श्लोकमें वर्णित प्रकृति और योगमाया—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं । प्रकृति परमात्माकी एक नित्य दिव्य शक्ति है और उस प्रकृतिके ही एक अविद्यामय अंशको अज्ञान या माया कहते हैं जो कि प्रकृतिके कार्यरूप तीनों गुणोंवाली है । ज्ञानमार्गी इस प्रकृतिको विद्या कहते हैं और इस ब्रह्मविद्या—अध्यात्मविद्या (गीता १० । ३२) का अवलम्बन लेकर अविद्याका नाश करके परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करते हैं तथा भक्तजन इसे भगवान्की भक्ति—दैवी सम्पत्ति कहते हैं, जिसका आश्रय लेकर वे भगवान्के दर्शन करते हैं । वही भगवान्की ओर ले जानेवाली भगवान्की दैवी प्रकृति है ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

(गीता ९ । १३)

इसमें परमात्माकी दैवी प्रकृतिका आश्रय लेनेवालोंको महात्मा बतलाया है ।

दैवी योगमाया तो बन्धनकारक, दुस्तर, मोहित करनेवाली

और परमात्माकी ओरसे दूर ले जानेवाली है । इसे ही अविद्या कहते हैं ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १३-१४)

इस मायाका आश्रय लेनेवाले लोग उस अव्यय परमात्माको नहीं जान पाते ।

गीतामें खोज करनेपर यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि यह माया गुणमयी है । गुण मायासे उत्पन्न नहीं हैं । इनको तो भगवान्‌ने प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया है । यथा—

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः । (३ । ५)
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् (१३ । १९)
पुरुषःप्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । (१३ । २१)
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । (१४ । ५)
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः । (१८ । ४०)

भगवान्‌ने मायाको गुणमयी बतलाया है, न कि प्रकृतिको । 'मयट्' प्रत्यय विकारार्थमें भी होता है, इसलिये यहाँ मायाको गुणोंका विकार माना है । प्रकृति तो गुणोंसे क्या मायासे भी परेकी वस्तु है । इसीलिये भगवान् प्रकृतिको अधीन करके लीला-विग्रह धारण करते हुए भी मायिक या गुणमय नहीं हो जाते । वे तो सदा सर्वथा दिव्य अमायिक गुणातीत ही स्थित रहते हैं पर

मायाका पर्दा लेकर प्रकट होनेके कारण साधारण जीव उन्हें नहीं जान पाते और भगवान्‌को साधारण मनुष्य ही मानने लगते हैं। (गीता ७ । २४; ९ । ११)।

इस प्रकार माया और प्रकृति—ये दो अलग-अलग तत्त्व हैं और इनमें बड़ा भारी अन्तर है।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि सगुण साकार परमात्मा अज, अव्यय और गुणातीत हैं। भगवान्‌का दिव्य विग्रह प्रकृतिजन्य तीनों गुणोंके अंदर नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥
(७ । १३)

'गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सब संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशी परमात्माको नहीं जानता।'

सगुण साकार भगवान् इन तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे हैं। जब उनकी उपासना करनेसे ही मनुष्य गुणातीत हो जाता है, तब फिर वे स्वयं तीनों गुणोंसे परे हैं—इसमें तो सन्देह ही क्या है। भगवान् कहते हैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(१४ । २६)

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर

भजता है, वह इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है ।'

यदि साकार भगवान् तीनों गुणोंके अंदर होते तो उनकी उपासना करनेसे मनुष्य गुणातीत कैसे हो सकता । अतः भगवान्का दिव्य विग्रह मायिक नहीं है । यदि मायिक होता तो आत्मनिष्ठ ज्ञानीजनोंका उसमें आकर्षण क्योंकर होता । तत्त्वज्ञानी जनकजीका भी मन भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणके स्वरूपको देखकर आकर्षित हो जाता है । गोस्वामी तुलसीदासजीने उनकी स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥
प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर ।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर ॥
सहज बिराग रूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू । पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥

एक बार सनकादि ऋषि वैकुण्ठमें जा रहे थे, वहाँ भगवान्के द्वारपाल जय-विजयने उन्हें भीतर जानेसे रोका । तब सनकादिने उनको तीन जन्मोंतक राक्षस होनेका शाप दे दिया । भगवान् अपने अनुचरोंद्वारा श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान हुआ जानकर स्वयं लक्ष्मीसहित वहाँ पधारे । उस समय भगवान्के दर्शनसे उनकी जो दशा हुई, वह बड़ी विलक्षण थी । भागवतकार लिखते हैं—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।

अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥
(३।१५।४३)

'प्रणाम करनेपर उन कमलनेत्र भगवान्‌के चरणकमलकी परागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी हवाने उनके नासिका-छिद्रोंमें प्रवेशकर उन अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले ज्ञानी महात्माओं-के भी चित्त और शरीरको क्षुब्ध कर दिया ।'

जिनका मन 'सहजविरागरूप' था, जो अक्षर परमात्मामें नित्य स्थित रहनेवाले थे, जिन्हें 'दुःखदोषानुदर्शनम्' की साधनापूर्वक वैराग्य करना नहीं पड़ता था, उन जनक और सनकादिकोंका चित्त भी भगवान्‌की ओर खिंच जाता है । वे विलक्षण प्रेमार्णव भगवान् मायिक कैसे हो सकते हैं ?

इस निर्गुण सगुण-साकार तत्त्वकी एकता बतलानेवाले श्लोकमें 'अपि' और 'सन्' पदोंके दो बार देनेका यह स्वारस्य है कि निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार वस्तुतः एक ही तत्त्व हैं । इनमें अनेकता तो साधकोंके दृष्टिभेदके ही कारण दीखती है । परमात्माका जो ध्यान, चिन्तन, धारण, भावना और ज्ञान किया जाता है, वह सब मन-बुद्धिके द्वारा ही किया जाता है और परमात्मा वस्तुतः मन-बुद्धिसे अतीत हैं । अतः वृत्तिके द्वारा जो कुछ भी निश्चित किया जाता है, उससे परमात्मा वास्तवमें परे ही रह जाते हैं । इसलिये मन-बुद्धिसे पकड़ा हुआ परमात्माका कोई भी स्वरूप वास्तविक नहीं, कल्पित ही है । यद्यपि मन-बुद्धि परमात्माके यथार्थ स्वरूपतक नहीं पहुँच पाते, तथापि परमात्मा तो सर्वातीत होते हुए साधककी कल्पनामें भी मौजूद हैं ही; क्योंकि

वे देश, काल, वस्तु, भाव और धारणा—सभीमें अविच्छिन्न रूपसे सदा ही विद्यमान हैं। तथा परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाले पुरुषका लक्ष्य परमात्मा होनेके कारण उनके परम भावको समझकर सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार—किसी भी रूपकी कैसी भी भावना क्यों न की जाय, उसका भी फल परमात्माकी प्राप्ति ही होता है। अतः परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे जो भी कुछ साधन किया जाता है उसका फल वस्तुतः सत्यस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही होनेके कारण सभी साधन वस्तुतः सत्य ही हैं, कल्पित नहीं।

परमात्मा सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है; किंतु लक्ष्य परमात्मा न रहनेके कारण ही मनुष्य शान्तिलाभसे वञ्चित रहता है। यदि उसका लक्ष्य परमात्मा हो जाय तो किसी भी शास्त्रोक्त उपायसे परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। किसी भी मार्गसे चला जाय, वास्तविक परमात्माकी प्राप्तिके बाद तो उस पुरुषकी स्थितिमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता; परंतु साधनकालमें उपायभेदके कारण अन्तर रहता है तथा साधनकी अन्तिम सीमाकी प्राप्तिमें भी भेद रहता है। नीचे इस विषयमें कुछ लिखा जाता है—

दर्शन, ज्ञान, प्रवेशका प्रकरण

सगुण साकार भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेवाले भक्तोंको परमात्माके दर्शन, उनका तत्त्वज्ञान और उनके स्वरूपकी प्राप्ति—तीनों होते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

'परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

सगुण निराकारकी उपासनाकी दो प्रणालियाँ होती हैं—एक तो परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं और मैं उनका दास हूँ—इस प्रकारके भेद-भावपूर्वक की जाती है । यथा—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

दूसरी प्रणालीमें अभेदभाव रहता है कि सब परमात्मा ही है, मैं कोई उससे अलग वस्तु नहीं—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(१३ । ३०)

इन दोनोंमें भेद-प्रणालीसे चलनेवाला साधन-कालमें भेद मानकर सिद्धिकालमें अपनेसे अभिन्न भी मान सकता है और भिन्न भी । भिन्न माननेवाला तो उपर्युक्त सगुण साकारकी उपासनाके मार्गसे परमात्माके दर्शन करके तथा तत्त्वसे जानकर उन्हें प्राप्त कर लेता है और सिद्धिकालमें साध्यको अपनेसे अभिन्न माननेवाला परमात्माके स्वरूपको तत्त्वतः जानकर निर्गुण निराकारको प्राप्त हो जाता है । उसे साकार विग्रहकी भावना तथा दर्शनकी इच्छा न रहनेके कारण उनके दर्शन नहीं होते ।

सगुण साकारकी उपासनासे नेत्रोंसे दर्शन, बुद्धिसे ज्ञान और आत्मासे प्राप्ति—तीनों होते हैं और सगुण निराकारकी उपासनासे

केवल बुद्धिसे ज्ञान और आत्मासे प्राप्ति—दो ही होते हैं एवं मन, बुद्धिका विषय न होनेसे निर्गुण निराकारकी तो उपासना ही नहीं बन सकती; वहाँ तो केवल आत्मासे प्राप्ति ही होती है ।

अभेद-भेदमार्गका वर्णन

साधनका आरम्भ सगुण-निराकारसे ही होता है । साधनके मुख्य भेद दो ही हैं—निर्गुण और सगुणकी उपासना अथवा यों कहें कि अभेद और भेदमार्ग ।

निर्गुण निराकारका उद्देश्य रखकर अभेदभावसे उपासना करनेमें मुख्य साधन है—एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र सदा परिपूर्ण है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; सम्पूर्ण पदार्थ, क्रिया, भाव, व्यक्ति—सभी मृगतृष्णाकी अथवा स्वप्नकी सृष्टिकी तरह केवल मायामय ही है—इस प्रकारकी वृत्तिको हर समय अटल बनाये रखना । यह भाव यदि बुद्धिमें अच्छी तरह न बैठे तो वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र सदा परिपूर्ण है—इस प्रकार परमात्माकी सत्ताको ही प्रधान लक्ष्य बनाकर साधन किया जा सकता है ।

सगुण उपासनामें भेदभाव ही मुख्य है और भेदभावमें ऊँचीसे-ऊँची स्थिति परमात्माके साकार स्वरूपके साक्षात् दर्शन होना है । इसके लिये निरन्तर साकार इष्टदेवके नामका जप और उनके स्वरूपका चिन्तन करना ही मुख्य साधन है । यदि साकार रूप ध्यानमें न आये, तो भी परम प्रेममय, परम दयालु भगवान् सदा सर्वत्र विराजमान हैं, वे मेरे साथ चलते हैं, मेरे साथ प्रत्येक कार्य करते हैं और मुझे अपने आज्ञानुसार चलते देखकर प्रसन्न होते

रहते हैं तथा बड़ी ही कृपादृष्टिसे मुझे देख रहे हैं, मैं इस प्रकार उनकी कृपादृष्टिमें रहकर सदा प्रसन्न रहता हुआ उन्हींके आज्ञानुसार चलता हूँ। इस तरह भगवान्‌की सत्ताको लक्ष्य बनाकर भी साधन किया जा सकता है।

निर्गुण-सगुण—दोनों ही उपासनाएँ परमात्माकी सत्ताकी प्रधानता रखकर ही होती हैं, अतः ये सगुण निराकारसे ही आरम्भ होती हैं। निर्गुण उपासनामें तो ज्यों-ज्यों दूसरी विजातीय—प्रकृतिकी सत्ता हटती जाती है और जीव-ब्रह्मका भेद मिटता जाता है तथा वृत्तियाँ सूक्ष्म होती चली जाती हैं, त्यों-ही-त्यों वह उपासना ऊँची—श्रेष्ठ मानी जाती है। सगुण साकारकी उपासनामें ज्यों-ज्यों भगवान्‌का विग्रहरूप ध्यानमें आने लगता है अर्थात् वृत्तियाँ विशेषरूपसे भगवदाकार बनती जाती हैं, जितना ही भगवान्‌का स्वरूप वृत्ति और इन्द्रियोंका विषय होता चला जाता है, उतनी ही वह उपासना ऊँची—श्रेष्ठ मानी जाती है।

निर्गुण निराकारको लक्ष्य करके उपासना करनेवाले पुरुषकी उपासनाकी पूर्णता होनेपर उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन बोधस्वरूप परमात्मा ही रह जाते हैं। परमात्माके सिवा अन्य किसी भी वस्तुका संकल्प भी नहीं रहता। उसके ज्ञानमें अपनी तथा संसारकी सत्ता परमात्मासे भिन्न नहीं रहती। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय—सभी कुछ एक परमात्मस्वरूप ही बन जाते हैं, तब वह कृतकृत्य हो जाता है।

सगुण साकारकी उपासनाकी पूर्णता होनेपर भक्तको नेत्रोंसे भगवान्‌के दिव्य स्वरूपका साक्षात् दर्शन होता है, वह उनके

विग्रहकी दिव्य गन्धका अनुभव करता है, उसमें भक्तोंके समस्त लक्षण घटने लग जाते हैं, जो कि भगवान्ने स्वयं गीता अध्याय १२ में श्लोक १३ से १९ तक कहे हैं। तथा भगवान्के प्रत्यक्ष मिलनके समय जो भी घटनाएँ होती हैं, वे बादमें भी सत्य ही प्रमाणित होती हैं—जैसे ध्रुवजीको शङ्ख छुआनेपर समस्त शास्त्रोंका ज्ञान हो जाना आदि।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अध्याय ३ श्लोक ३ में परमात्माकी प्राप्तिके ये दो स्वतन्त्र मार्ग बतलाये हैं—(१) सांख्यनिष्ठा, (२) योगनिष्ठा। ये दोनों ही मार्ग एक-दूसरेसे पूर्व-पश्चिमकी भाँति अत्यन्त भिन्न हैं; किंतु ऐसा होनेपर भी दोनोंके द्वारा प्रापणीय वस्तु एक ही है (गीता ५। ४-५)। सांख्ययोगी परमात्मासे अपनी कोई अलग सत्ता नहीं मानता तथा प्रकृतिसे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—यों समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अभिन्नभावसे नित्य स्थित रहता है। किंतु कर्मयोगी साधनकालमें कर्म, कर्मफल, परमात्मा और अपनेको भिन्न-भिन्न मानकर फल और आसक्तिका त्याग करके भगवान्की आज्ञाके अनुसार भगवान्के लिये ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है। इसलिये ये दोनों मार्ग एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं।

इस प्रकार एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न होनेके कारण एक पुरुष एक समयमें ही दोनोंका अनुष्ठान एक साथ नहीं कर सकता। हाँ, किसीकी रुचि हो तो पहले कर्मयोगका साधन करके फिर सांख्ययोगका साधन कर सकता है; परंतु सांख्ययोग योगनिष्ठाका

अङ्ग नहीं बन सकता, क्योंकि सांख्ययोगमें अभेददृष्टि रहती है। तब वह भेदोपासनारूप योगनिष्ठाका अङ्ग कैसे बन सकता है। यदि किसी सांख्ययोगके साधन करनेवालेकी रुचि और मत बदल जाय और वह उस साधनको छोड़कर योगनिष्ठाका साधन करने लगे तो बात दूसरी है।

उपसंहार

परमात्मा वास्तवमें भेद-अभेद दोनोंसे रहित हैं। परमात्मा निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं; निराकार भी हैं, साकार भी हैं; व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी हैं और इन सबसे रहित तथा विलक्षण भी। जहाँ मन-बुद्धि नहीं पहुँच सकते, परमात्मा वहाँ भी हैं और परमात्माको लक्ष्य बनाकर मन-बुद्धिसे हम जिस-किसी भी स्वरूपकी धारणा करते हैं, परमात्मा वहाँ भी हैं ही। इसलिये कोई भी मनुष्य परमात्माके इस तत्त्वको समझकर परमात्माकी प्राप्तिके लिये उनके किसी भी रूपको लक्ष्य बनाकर साधन करता है तो उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है तथा वह प्राप्ति होनेके बाद ही असली स्वरूपको समझता है। पर वहाँ यह कहना भी नहीं बन सकता; क्योंकि वह स्थिति देश, काल, वस्तुसे अतीत है और वहाँ ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं है। पर कोई यह समझे कि पहले परमात्माके इस तत्त्वको पूर्ण रीतिसे जान लिया जाय और पीछे उपासना की जाय तो यह नहीं हो सकता। क्योंकि पूर्ण-रूपसे परमात्माका तत्त्व जान लेना तो उनकी प्राप्तिके बाद ही होता है; पहले तो शास्त्रों, महात्माओंके वचनोंपर विश्वासकर मन-बुद्धिके द्वारा वैसा ही मान लेना पड़ता है। इसीको शास्त्रोंमें श्रद्धा कहा है

तथा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक की गयी उपासना ही साधकको वास्तविक तत्त्व पूर्णतः समझानेमें समर्थ होती है ।

इसलिये साधकको भेद, अभेद या यों कहें कि भक्ति, ज्ञान—इनमेंसे किसी भी एक मार्गको पकड़कर श्रद्धा और तत्परताके साथ उसे तय करनेमें जल्दी-से-जल्दी लग जाना चाहिये । यह मानव-शरीर बहुत ही दुर्लभ है और इससे ऐसा बड़ा भारी काम सिद्ध हो सकता है, जो कि देवयोनिमें भी सुलभ नहीं है । परंतु यह शरीर है अनित्य; इसलिये जल्दी ही सावधान होकर साधनमें लग जाना चाहिये; क्योंकि पारमार्थिक साधनके बिना केवल स्त्री, पुत्र, धन-जन, जमीन-मकान, भोग-सामग्रीके संग्रह और उपभोगमें ही समय बरबाद हो जाता है—जिससे पूर्वके पुण्य तथा पुण्यसे प्राप्त आयु तो नष्ट होती है, साथ ही आसक्ति और स्वार्थ रहनेके कारण न्याय-अन्यायका कोई ख्याल न रहनेसे मनुष्य चौरासी लाख योनियों तथा नरक प्राप्त करानेवाले बड़े भारी पापोंको भी बटोरता रहता है और फलतः सदाके लिये दुखी बन जाता है । भोगोंके उपभोगसे आयु नष्ट होती है, समय बरबाद होता है, अन्तःकरणमें भोगोंके संस्कार जमते हैं, आदत बिगड़ जाती है, धन नष्ट होता है, पुण्य क्षीण होते हैं, शरीर निर्बल और रोगी हो जाता है; भोगोंमें ही रचे-पचे रहनेके कारण धर्मसञ्चय नहीं हो पाता और अन्यायसे भोग भोगनेपर तो पापोंका बोझ भी बढ़ता है । अतः इन असत् भोग-पदार्थोंकी तरफ लक्ष्य न रखकर दुःख, अशान्ति, बन्धन, अल्पता, भय, उद्वेग, चिन्ता, शोक, जलन, ह्रास आदिका जहाँ अत्यन्त अभाव है, ऐसे 'सत्' स्वरूप परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्तिके लिये

शीघ्रातिशीघ्र अपना सारा बल लगाकर प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि यह शरीर अनित्य है, न जाने कब प्राण चले जायँ और यदि साधन न किया गया तो ऐसा मौका पुनः मिलना बहुत ही कठिन है। यह सुदुर्लभ मानव-शरीर और यह कलियुगका समय प्राप्त करके भी जो मनुष्य सावधान नहीं होता, वह महान् हानि उठाता है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया तो सत्य है यानी उत्तम है; यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर, परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसलिये मनुष्यको उचित है कि उस परमात्मतत्त्वको जाननेके लिये महापुरुषोंकी शरणमें जाकर, सरल हृदयसे श्रद्धापूर्वक पूछकर उस तत्त्वको समझे और सब सन्देहोंका समाधान करके किंकर्तव्य-विमूढ़ताको सर्वथा हटाकर उनके कहनेके अनुसार परमात्माकी प्राप्तिके लिये तत्पर हो जाय। श्रुतिभगवती घोषणा करती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंको प्राप्तकर इस तत्त्वको जानो।'

भगवद्भजनका स्वरूप

श्रीभगवान् कहते हैं—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।'

—इस भगवद्वचनके अनुसार हमें तुरंत भगवद्भजनमें लग जाना चाहिये । श्रीभगवान्ने इस श्लोकार्धमें बतलाया कि 'अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व ।' अनित्य कहनेका तात्पर्य यह है कि देर न करो, क्या पता है—

दम आया न आया खबर क्या है ?

यदि अभी श्वास बंद हो जाय तो फिर कुछ भी न हो सकेगा। विचारी हुई बातें सब वैसी-की-वैसी ही रह जायँगी। सब गुड़ गोबर हो जायगा; क्योंकि शरीर क्षणभङ्गुर है, यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण बड़ी तेजीसे जा रहा है और जा रहा है उस मृत्युकी ओर, जिसको कोई नहीं चाहता । वही मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है। प्रतिघंटा ९०० श्वास जा रहे हैं, २४ घंटोंमें २१६०० श्वास चले जाते हैं। जरा इस ओर ध्यान देना चाहिये। खर्च तो यह हो रहा है और कमाई क्या कर रहे हैं ? किस बातकी प्रसन्नता है ?

छः सौ सहस इकीस दम जावत हैं दिन रात ।
एको टोटो ताहि घर काहेकी कुसलात ॥

दूसरा पद कहा है—'असुखम्' यानी यहाँ इस लोकमें सुख नहीं है। यह लोक सुखरहित है। इतनी ही बात नहीं

है, भगवान् तो कहते हैं—'दुःखालयमशाश्वतम्'। दुःखालय है; किंतु हम तो इसमें ठीक इसके विपरीत सुख ढूँढ़ते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है। जैसे कोई आदमी विद्यालयमें धोती आदि कपड़े खोजे, औषधालयमें मिठाईका भाव पूछे वैसे ही हम इस दुःखालयमें सुख ढूँढ़ रहे हैं। इस संसारमें सुखकर वस्तुएँ मानी जाती हैं—धन, स्त्री, पुत्र, घर और भोग। इन सबमें विचार करके देखें तो वास्तवमें सुख है ही नहीं, आदि-अन्तमें सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि हमें वही वस्तु सुख दे सकती है; जिसका हमारे पास अभाव है और हम जिसे चाह रहे हैं। उसके लिये चाहना जितनी ही बलवती होगी, उतना ही उस वस्तुके मिलनेपर सुख अधिक होगा। अभाव रहते हुए भी यदि उसके अभावका अनुभव नहीं है यानी उसके लिये छटपटाहट नहीं है तो वह वस्तु प्राप्त होकर भी हमें सुखी नहीं बना सकती। अतः धन आदि पदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेके लिये पहले धनके अभावका दुःख अत्यावश्यक है। यह तो हुआ वस्तुके होनेसे पहले होनेवाला दुःख। फिर वे धनादि पदार्थ मनोरथके अनुसार प्रायः मिलते नहीं। यह हुआ दूसरा दुःख। मिल भी जायँ तो हमसे दूसरेको अधिक मिल जाते हैं तो वह एक नया दुःख खड़ा हो जाता है, यह हुआ तीसरा दुःख। और मिलनेपर उसके नाशकी आशङ्का बनी ही रहती है, जो महान् चिन्ताका कारण है। यह हुआ चौथा दुःख। एवं होकर नष्ट हो जानेपर तो बहुत ही

कष्ट भोगना पड़ता है। उस समय जो दुःख होता है, वह उसके अभावके समय भी नहीं था। यह हुआ पाँचवाँ दुःख। श्रीपतञ्जलिने कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं।'

मायाकी मोहिनी शक्तिसे ही यह अनुभव होता है कि धनादि पदार्थोंके इतने रूपमें प्राप्त हो जानेपर हम बहुत सुखी हो जायँगे। ऐसी आशा और कथन तो हम सुनते आ रहे हैं; पर अभीतक ऐसा संसारी मनुष्य कोई नहीं मिला, जो यह कह दे कि हम पूर्ण सुखी हो गये हैं। प्रत्युत यह कहते तो प्रायः सभी देखे जाते हैं कि 'हम तो पहलेसे भी अधिक दुखी हैं।' कहा भी है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति॥

'जबतक समुद्रको पार करनेकी तरह एक दुःखका अन्त नहीं होता कि उसी बीचमें दूसरा दुःख आ धमकता है; ठीक ही तो है अभावोंमें तो अनर्थोंकी बहुलता होती ही है।'

एक वस्तुके अभावका अनुभव होनेपर उसकी पूर्तिके लिये चेष्टा करते हैं, किंतु प्रायः उसकी सिद्धि होती नहीं; कहीं दैवसंयोगसे हो भी जाती है तो फिर उसमें कई अन्य नये-नये अभावोंकी सृष्टि होने लगती है, जिनकी कि पहले कभी सम्भावना ही नहीं थी। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने भी सांसारिक सुख हैं, सब-के-सब ही दुःखयोनि यानी दुःखोंकी प्रसवभूमि—दुःखोंको पैदा करनेवाली खानें हैं, एवं उत्पत्ति और विनाशसे संयुक्त हैं। अतः हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।'

विचार करके देखा जाय तो किसी भी सांसारिक प्राणीको अपनी परिस्थितिमें पूर्ण सुख और संतोष नहीं है; क्योंकि वह उससे भी और अधिक सुखके लिये सदा लालायित तथा प्रयत्नशील रहता है। शास्त्रमें बतलाया है—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
तत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

किसी राजस्थानी कविने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पण्डिताँ ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजाँ ही आवसी तृष्णा-रोग गयाँ॥

तीसरी बात कहते हैं कि 'इमम् लोकम् प्राप्य'। यहाँ 'इमम् लोकम्' इन पदोंसे संकेत है मनुष्य-शरीरकी ओर;

भगवान् कहते हैं कि इस मानव-शरीरको प्राप्त करके तो मेरा भजन ही करना चाहिये; क्योंकि—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

अतएव इस मानवदेहको प्राप्त करके तो केवल भगवद्भजन ही करना चाहिये; क्योंकि दूसरे-दूसरे काम तो अन्यान्य शरीरोंमें भी हो सकते हैं, पर भजनका अवसर तो केवल इसी शरीरमें है। देवादि शरीरोंमें तो भोगोंकी भरमार है तथा वहाँ अधिकार न होनेसे भी भजन कर नहीं सकते; और नरकोंमें केवल पापोंके फलोंका भोग होता है, वहाँ नया कर्म करनेका न अधिकार है और न उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान ही है। इसी प्रकार अन्य चौरासी लाख योनियोंमें भी कर्तव्याकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, तथा साधन-सामग्री नहीं और अधिकार भी नहीं। अधिकार, ज्ञान और सामग्री—ये तीनों केवल इस मानव-शरीरमें ही हैं। कहीं-कहीं पशु-पक्षी आदिकोंमें भी भगवद्भक्ति आदि देखनेमें आती है तो वे अपवादस्वरूप ही हैं।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

इस कथनपर हमें ध्यान देकर विचार करना चाहिये। जो मनुष्य-शरीर पाकर साधन नहीं करते, वे कहते हैं—'यह कलियुग

है। समय बड़ा बुरा है। इस समय चारों ओर पाप-ही-पापका प्रचार हो रहा है; सत्य, अहिंसा आदि धर्मोंका पालन तथा भगवद्भजन हो ही नहीं सकता। यह कलिकाल बड़ा विकराल युग है, सबकी बुद्धि अधर्ममें लग रही है, क्या करें, समयकी बलिहारी है। जब सब-का-सब वायुमण्डल ही विगड़ा हुआ है, तब एक मनुष्य क्या कर सकता है। यदि हम समयके अनुसार न चलें तो निर्वाह होना कठिन है और उसके अनुसार चलें तो पारमार्थिक साधन नहीं बन पाता।' किंतु इसपर हमें विचार करना चाहिये, क्या हम सचमुच समयके अनुसार चलते हैं ? कभी नहीं। जब शीतकाल आता है, तब गर्म कपड़े बनवाते हैं, आग आदिका यथोचित प्रबन्ध करते हैं, घरमें कमरा बंद करके रहते हैं—क्या यह समयके प्रतिकूल चलना नहीं है ? ऐसे ही गर्मीके दिनोंमें ठंडे जल आदिका प्रयोग करते हैं, गर्मीसे बचनेके लिये सतत सावधान रहते हैं और वर्षामें भी यथायोग्य उपायोंसे उससे भी त्राण पानेकी चेष्टा करते ही रहते हैं। अर्थात् सभी समय शरीरकी प्रतिकूलताके निवारण, उससे रक्षा एवं शरीरके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार हमें कलिकालसे आध्यात्मिकताको बचानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे शरीरकी रक्षा न करनेपर शरीरका नाश हो जाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनकी रक्षा न करनेसे उस लाभसे सर्वथा वञ्चित रहनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

अतः समयको दोष देना मिथ्या है; क्योंकि आध्यात्मिक उन्नतिके लिये कलियुग बहुत उत्तम माना जाता है। कारण, इसमें

भगवद्भजनका मूल्य बहुत मिलता है, बड़े सस्तेमें मुक्ति मिल जाती है, जैसी कि दूसरे युगोंमें सम्भव नहीं थी । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

इसलिये बिना प्रयास ही जिसमें संसारसमुद्रसे पार पहुँचा जा सके, ऐसे कलियुगको दोष देना सरासर भूल है ।

इसी प्रकार जिन कर्मोंके फलस्वरूप मुक्तिका साधनरूप मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, उन कर्मोंको दोष देना भी मिथ्या है । क्योंकि—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा ॥

ईश्वरने भी बड़ी भारी कृपा कर दी कि जिससे कर्मोंका सब सम्बन्ध जुटाकर यानी इस समय मानव-शरीरके योग्य कर्म न रहनेपर भी मानव-शरीर देकर आत्मोद्धारके लिये सुअवसर दे दिया । एक राजस्थानी कविने कहा है—

करुणाकर कीन्हीं कृपा, दीन्ही नरवर देह ।
ना चीन्ही कृतहीन नर खल कर दीन्ही खेह ॥

'करुणानिधि भगवान्‌ने कृपा करके श्रेष्ठ मनुष्य-शरीर दे दिया; परंतु मूर्ख और कृतघ्न मनुष्यने उस शरीरको पहचाना नहीं प्रत्युत उसे यों ही मिट्टीमें मिला दिया ।'

ऐसे अकारण कृपालुको यह कहकर कि 'क्या करें, भगवान्‌ने

इमें ऐसा ही बना दिया, उन्होंने हमको संसारी बनाकर घरके काम-धंधोंमें फँसा दिया, कैसे भजन करें, भगवान्‌की मर्जी ही ऐसी है, वे कराते हैं तभी हम ऐसा करते हैं'–इत्यादि दोष देना मिथ्या है। तात्पर्य यह कि मनुष्य स्वयं तो उद्योग करता नहीं और दोषारोपण करता है दूसरोंपर तथा आप रहना चाहता है निर्दोष। ऐसे काम कबतक चलेगा–'कैसे निबहै रामजी रुई लपेटी आग ?'

अतः विवेकपूर्वक विचार करके अपनी वास्तविक उन्नतिके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतासे खूब उत्साहके साथ लग जाना चाहिये।

भगवान्‌ने चौथी बात कही है—'माम् भजस्व।' मुझको भजो। अब विचारना यह है कि भगवान्‌का स्वरूप क्या है और उसका भजन क्या है। आजतक जैसा देखा, जैसा सुना और पढ़ा तथा उसके अनुसार भगवान्‌का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि जैसा स्वरूप समझा, वही है भगवान्‌का स्वरूप और इस प्रकारके भगवान्‌के स्वरूपको सर्वोपरि तथा परम प्रापणीय समझकर एकमात्र उनके शरण हो जाना ही भजन है। अर्थात् जिह्वासे भगवान्‌के नामका जप, मनसे उनके स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उनका निश्चय करना तथा शरीरसे उनकी आज्ञाओंका पालन करना; एवं सब कुछ उन्हींके समर्पण कर देना और उनके प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना—यह है भगवद्भजन।

अब भगवद्भजनरूप शरणागतिके उक्त चारों प्रकारोंका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है।

भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनके परम पावन नामका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे परम श्रद्धापूर्वक जप करना और उन्हीं भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन, चिन्तन, श्रवण और कथन करते रहना एवं चलते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते हर समय भगवान्की स्मृति रखना—यह शरणका पहला प्रकार है।

दूसरा प्रकार है—भगवान्की आज्ञाओंका पालन करना। इसमें केवल इस बातकी ओर ध्यान देना है कि कहीं मन इन्द्रियोंके और शरीरके कहनेमें आकर केवल उनकी अनुकूलतामें ही न लग जाय; बल्कि यह विचार बना रहे कि भगवान्की आज्ञा क्या है—और यही विचारकर काम करता रहे। भगवदाज्ञा क्या है? और वह कैसे प्राप्त हो? इसका उत्तर यह है कि एक तो श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे भगवान्के श्रीमुखके वचन हैं ही। दूसरे भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके वचन भी भगवदाज्ञा ही हैं; क्योंकि जिस अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहंकार नहीं रहा, वहाँ केवल भगवान्की आज्ञासे ही स्फुरणा और चेष्टाएँ होती रहती हैं। तीसरे उन महापुरुषोंके आचरण भी हमारे लिये आदर्श हैं; क्योंकि भगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बर्तने लग जाता है।'

चौथे, साधकके अपने राग-द्वेषरहित अन्तःकरणकी स्फुरणा भी भगवदाज्ञा समझी जा सकती है। पाँचवें, कोई भी मनुष्य अपने स्वभावके अनुकूल ही आज्ञा देता है; अतः उन परम दयालु प्रभुके स्वभावको समझना चाहिये। श्रीभगवान् आज्ञा देंगे तो अपने स्वभावके अनुसार ही तो देंगे, और वे हैं सर्वसुहृद्। इससे जिस कार्यमें अपने स्वार्थका त्याग और जीवमात्रका परम कल्याण हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो, वह श्रीभगवान्‌की आज्ञा है। इस प्रकार उनकी आज्ञाका रहस्य समझकर उसके अनुकूल चलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसीको अपना परम धर्म समझकर उसीके अनुसार चलनेकी प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'

तीसरा प्रकार है—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना। वास्तवमें तो सब कुछ है ही भगवान्‌का; क्योंकि न तो हम जन्मके समय कुछ साथ लाये और न जाते समय कुछ ले ही जायेंगे; तथा न यहाँ रहते हुए भी किसी भी वस्तु तथा शरीरादिकोंको हम अपने मनके अनुसार चला ही सकते हैं। इससे यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि हमारा कुछ भी नहीं है, सब कुछ केवल भगवान्‌का ही है और उन्हींके अधीन है। फिर भी हमने उन सबमें भ्रमसे जो अपनापन बना रक्खा है, उसे उठा लेना है।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

चौथा प्रकार है—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रहना। उसमें भी अनुकूलतामें तो प्रसन्नता रहती ही है, प्रतिकूलता-

में वैसी नहीं रहती । वास्तवमें तो अनुकूलतामें जो प्रसन्नता रहती है, वह भगवद्विधान मानकर होनेवाली प्रसन्नता नहीं है; वह तो मोहके कारण है । भाव यह कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तः-करणकी अनुकूलताको लेकर जो प्रसन्नता होती है, वह मोहजनित है । उसे विवेकके द्वारा हटाकर 'भगवान्‌ने ही यह विधान किया है और यह मेरे लिये परम मङ्गलमय है'—इस प्रकार समझनेपर जो प्रसन्नता होगी, वही भगवान्‌के नाते होगी । फिर प्रतिकूलतामें भी दुःखकी बात नहीं रह जायगी । इस प्रकार भगवान्‌का विधान मान लेनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की स्मृति बढ़ती रहेगी; क्योंकि वह परिस्थिति भगवान्‌की ही बनायी हुई है, यह प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे भूल सकेगा । ऐसा हो जाय, तभी यह समझा जा सकता है कि हमने सभी अवस्थाओंको भगवान्‌का विधान समझा है ।

विचार कर देखनेसे मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी प्रतिकूल घटनामें एक लाभ और है । अनुकूल घटनासे पुण्य क्षीण होते हैं और प्रतिकूल घटनासे पाप नष्ट होते हैं । तथा पापोंका विनाश ही हमारे लिये हित है एवं पुण्योंका विनाश ही हमारे लिये अहितकर है । दूसरी बात यह है कि प्रतिकूलतामें ही मनुष्यका विकास होता है, अनुकूलतामें तो उन्नतिकी रुकावट होती है । अतः प्रभु जितनी ही प्रतिकूलता भेजते हैं, उतना ही वे हमारा परम हित कर रहे हैं । बच्चेके जब मैला लग जाता है और माँ उसे धोती है, तब बालकको उसका स्नान कराना बुरा लगता है । वह रोता

है, चिल्लाता है; किंतु माँ उसकी इच्छाकी कोई परवा न करके उसे साफ कर ही देती है। ऐसे ही पापोंका विनाश करनेमें प्रभु हमारी सलाह न लेकर, हमारे रोने और चिल्लानेकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमें शुद्ध कर ही देते हैं। और जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसको अधिक साफ करता है, वैसे ही प्रभु किसी भक्तको पूर्वपापोंके अनुसार अधिक कष्ट देते हैं, उसे यह समझना चाहिये कि अब प्रभु मुझे अपना रहे हैं; क्योंकि वे प्रत्यक्ष ही मेरे पापोंका विनाश कर रहे हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उसका समस्त धन हर लेता हूँ तथा उसके बन्धु-बान्धवोंसे वियोग कर देता हूँ, जिससे वह दुःखपूर्वक जीवन धारण करता है।'

एक बात और विचारनेकी है, भगवान् जब हमारे मनकी सुन लेते हैं अर्थात् हमारे अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं, तब हमें संकोच होना चाहिये कि कहीं भगवान्‌ने हमारा मन रखकर हमारे लिहाजसे तो ऐसा नहीं कर दिया है। यदि हमारा मन रखनेके लिये किया है तो यह ठीक नहीं होगा; क्योंकि मन-चाहा करते-करते तो बहुत-से जन्म व्यतीत कर दिये, अब तो ऐसा नहीं होना चाहिये। अब तो वही हो, जो भगवान् चाहते हैं। बस, भक्तकी यही चाह रहती है। अतः वह भगवान्‌के विधान-मात्रमें परम प्रसन्न रहता है; फिर चाहे वह विधान मन, इन्द्रिय

और शरीरके प्रतिकूल हो या अनुकूल । क्योंकि केवल प्रभुका विधान मानकर चलनेपर तो अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें परम मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है । अतः वह अपना मनोरथ भगवान्‌से अलग नहीं रखता, भगवान्‌की चाहमें ही अपनी चाहको मिला देता है ।

इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन, भगवदाज्ञापालन, सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर देना और भगवद्विधानमें परम प्रसन्न रहना ही भगवद्भजन है ।

अतएव हम सबको चाहिये कि बहुत शीघ्र भगवद्भजनके ही परायण हो जायँ । ऐसे परायण हो जायँ कि भगवान्‌का भजन करते-करते वाणी गद्गद हो जाय, चित्त द्रवित हो जाय, मन भगवान्‌में ही लग जाय । फिर भजन करना न पड़े, स्वाभाविक ही होने लग जाय । तभी भजन भजन है, नहीं तो भजनकी नकल है; क्योंकि जो भजन किया जाय, वह नकली होता है और जो स्वतः बनने लग जाय, वह असली होता है । न होनेसे तो भजनकी नकल भी बड़ी अच्छी है, नकलसे भी आगे जाकर असली बन सकता है । इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

'सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन करना चाहिये ।'

गीता और रामायणके क्रियात्मक प्रचारकी आवश्यकता

परम कृपालु प्रभुकी परम अनुकम्पासे मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीरकी महिमा ऋषि-महर्षि सभी बड़े हर्षसे गाते हैं; क्योंकि इससे बहुत बड़े प्रयोजनकी सिद्धि हो सकती है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि जिस लाभसे बढ़कर कोई लाभ नहीं और जिसमें स्थित होनेपर बड़ा भारी दुःख भी कभी भी विचलित नहीं कर सकता—

> यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
>
> (६।२२)

—ऐसा अनुपम लाभ अभी इसी शरीरमें और हर एक मनुष्यको हो सकता है। मूर्ख-से-मूर्ख एवं पापी-से-पापी मनुष्य

भी थोड़े-से-थोड़े समयमें दुर्लभ परमपद परमात्माको प्राप्त कर सकता है। भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०।१०)

भगवान् स्वयं जब बुद्धियोग प्रदान करेंगे, तब मूर्खसे भी मूर्ख क्यों न हो, उसे उनकी प्राप्तिमें कौन-सी अड़चन रहेगी। भगवान्‌ने यहाँतक कह दिया कि 'अपि चेत्सुदुराचारः' सुष्ठु दुराचारी अर्थात् साङ्गोपाङ्ग पापी भी अनन्यभाक् होकर भजन करे तो उसको भी साधु मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत ही अच्छा कर लिया है। इससे वह क्षिप्र—बहुत ही शीघ्र धर्मात्मा बन जायगा और शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जायगा। अधिक समयकी भी आवश्यकता भगवान् नहीं बताते—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(८।५)

इस श्लोकमें 'च' अव्यय 'अपि'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ होता है कि 'अन्तकालमें भी मुझको याद करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, तो भी मुझको प्राप्त हो जाता है—इसमें संदेह नहीं।' तब, जो सब समय भगवान्‌का चिन्तन करे उसके कल्याणमें तो कहना ही क्या है। गीता आदि ग्रन्थोंके विचार करनेपर यह बात समझमें आती है कि प्रभुकी प्राप्ति वास्तवमें कठिन नहीं तथा उसके लिये अधिक समयकी भी आवश्यकता

नहीं; आवश्यकता है—अपनी हार्दिक लगनकी तथा परमात्माकी प्राप्तिके मार्ग—तरीके जाननेकी ।

मार्गोंको जानने और बतानेवाले हैं—सच्चे महात्मा एवं शास्त्र, वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थ । इनमें महात्माओंको तो हरेक मनुष्य पहचान ही नहीं सकता तब वह उनसे कैसे लाभ उठाये और वेदादि ग्रन्थोंका सम्यक् रीतिसे अध्ययन करके विचार-पूर्वक यथाधिकार साधन चुन लेना साधारण बात नहीं । शास्त्रका पारावार नहीं, ऐसी हालतमें हमें सुगमतासे सरल और सुखमय मार्गका बोध करा देनेवाले छोटे तथा सरल ग्रन्थ हों तो हम अनायास ही अपने जीवनको सफल बना सकते हैं और इसके लिये मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीतुलसी-दासकृत मानसरामायण—ये दो ग्रन्थ बहुत ही उपादेय हैं । श्रीगीतोपदेशके समय अर्जुनकी जो दशा थी, वही किंकर्त्तव्य-विमूढ़ दशा आज भारतवर्षकी है और इधर राज्यव्यवस्थाको देखते रामायण-की अर्थात् रामराज्यकी अत्यधिक आवश्यकता प्रतीत होती है । जीवनमें रामजीका आदर्श बर्ताव नितान्त प्रयोजनीय है और इसके लिये रामायण और गीताका श्रद्धापूर्वक पाठ करना, उसका अर्थ समझना और उसीके अनुसार जीवन बनाना परम आवश्यक है । और यह सब तभी सम्भव है, जब कि हम गीता और रामायणको अच्छी तरह समझकर तदनुकूल आचरण करें—उनको अपने जीवनमें उतारें । इसलिये गीता और रामायणका स्वयं पठन-पाठन करना चाहिये और दूसरोंसे करवाना चाहिये । उन बालकोंको जो

आधुनिक समयानुसार धर्मरहित शिक्षा पाये हुए हैं,* विशेषरूपसे सच्ची धार्मिक शिक्षाकी आवश्यकता है, हमारे शास्त्रोंका तो कहना है—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।' यह पशुवृत्ति बड़े जोरोंसे हमारे देशमें फैल रही है और घर कर रही है । अतः इसे निकालनेके लिये उनकी शरण लेनी चाहिये । जो स्वार्थत्यागी और हमारे यथार्थ हितैषी हैं । ऐसे हैं—भगवान् और उनके प्यारे भक्त—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं । सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥

---

* धर्मरहित राज्य, ब्राह्मणरहित धर्मविधान, क्षत्रियरहित शासन, वैश्यरहित व्यापार, शूद्ररहित सेवा, अन्त्यजरहित स्वच्छता—सफाई, वृक्षरहित उद्यान, फलरहित वृक्ष, सुगन्धरहित पुष्प, गोरस-घृतादिरहित मिष्टान्न-भोजन, घृतरहित हवन, अनुभव और आचरणरहित उपदेश, त्यागरहित प्रेम, गुण और धर्मरहित शिक्षा, आदररहित आतिथ्य, श्रद्धा-रहित साधन, योग्यतारहित अधिकार, भजनरहित जीवन, कर्तव्यरहित क्रिया, गो-महिष-रहित घृत, अश्व-गजरहित सवारी, ईश्वररहित जन-समुदाय, न्यायरहित निर्णय, स्त्रीरहित गृहस्थी, पुरुषरहित सेना, साहसरहित उद्योग, समत्वरहित ज्ञान, अनुरागरहित भक्ति, कुशलतारहित कर्म, पूर्ण निर्भरतारहित शरणागति, पूर्ण समर्पणरहित आत्मनिवेदन, गुरुओं (अध्यापकों और आचार्यों) पर शिष्योंका (विद्यार्थियोंका) शासन, माता-पितापर पुत्रका शासन, धार्मिकोंपर अधार्मिकोंका शासन, न्यायशील राजापर प्रजाका शासन और पुरुषोंपर स्त्रियोंका शासन आदि ऐसी चीजें हैं कि जिनसे समाज और राष्ट्रका सर्वनाश हो जाता है ।

संतन मिलि निरनै कियो मथि पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास॥

इन दोनोंके ही साक्षात् वचनामृतरूप ये दो पवित्र ग्रन्थरत्न हैं—श्रीभगवान्‌के श्रीमुखकी वाणी गीता और भक्तराज तुलसीकी मधुर वाणी श्रीरामायण। भाषाएँ अनेक हैं, पर उनमें सर्वश्रेष्ठ है—देवभाषा संस्कृत और दूसरी है राष्ट्रभाषा हिंदी। गीता संस्कृतमें है और रामायण हिंदीमें। हमारे अवतार भी दो ही मुख्य माने जाते हैं—एक श्रीराम और दूसरे श्रीकृष्ण। उक्त दोनों ग्रन्थ भी इन दोनोंकी महिमा हैं। उपदेश देनेके तरीके भी दो ही हैं—एक मुखसे कहकर और एक आचरण करके।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत् तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३। २१)

यही श्रीगीतामें श्रीभगवान्‌ने कहकर उपदेश दिया और भगवान् श्रीरामजीने श्रीरामायणमें उसीको करके दिखलाया। काव्य भी दो ही तरहके होते हैं—एक दृश्य और दूसरा श्रव्य। रामायण दृश्य और गीता श्रव्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता संक्षिप्त उपदेशसे और रामायण विशद उदाहरणों और लीला-कथाओंसे हमें समझा रही हैं। इसलिये इन दोनों ग्रन्थरत्नोंका अच्छी तरहसे अध्ययन करके अनुसरण करना चाहिये।

संत और उनकी सेवा

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् । (नारदभक्तिसूत्र ४१)

संत भगवान्से अपना अलग अस्तित्व नहीं मानते, इसलिये उनमें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं रहती । भगवान्से अलग उनकी कोई इच्छा नहीं, वे स्वाभाविक ही भगवान्की इच्छामें अपनी इच्छा, उनकी रुचिमें अपनी रुचि मिलाये रहते हैं । अतः उनके हरेक विधानमें परम संतुष्ट रहते हैं ।

संत भगवान्पर ही निर्भर रहते हैं । 'जाही बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये'—को वे अपने जीवनमें अक्षरशः चरितार्थ कर लेते हैं और इस प्रकार भगवान्के विधानानुसार रहनेमें वे बड़े प्रसन्न होते हैं । हमलोग भी भगवान्के विधानानुसार ही रहते हैं । (क्योंकि भगवान्की इच्छाके विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिलता ।) पर उसमें हमारी प्रसन्नता नहीं होती, हमें बाध्य होकर रहना पड़ता है । यदि हममें मन-इन्द्रियोंके प्रतिकूल भगवद्विधानको बदलनेकी शक्ति-सामर्थ्य होती तो हम उसे अपने अनुकूल बना लेते । परंतु करें क्या, हमारा वश नहीं चलता, तो भी शक्ति-सामर्थ्य न रहनेपर भी उससे बचनेका असफल प्रयत्न तो निरन्तर करते ही रहते हैं । पर संतमें ऐसी बात नहीं है । संतके मनमें भगवान्के विधानानुसार बरतनेमें कुछ भी विचार नहीं होता; प्रत्युत भगवान्के विधानके अनुसार प्राप्त परिस्थिति उसके लिये

अनुकूल-से-अनुकूल प्रतीत होती है। तथा उसके हृदयमें सदा-सर्वदा भगवान्‌के विराजमान रहनेके कारण उसपर प्रतिकूलता-का कोई असर नहीं होता।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'अर्जुन! मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा प्रिय है, न अप्रिय है; परंतु जो मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' विचार कर देखें तो यह बात ठीक समझमें आ जाती है। जैसे एक अच्छा मकान है, उसमें किसीका कब्जा-दखल नहीं है; अतएव अच्छे पुरुषको उसमें रहनेसे स्वाभाविक ही प्रसन्नता होगी। इसी प्रकार संतके अहंता ममतासे रहित निर्मल अन्तःकरणमें भगवान् प्रकटरूपसे रहकर बड़े प्रसन्न होते हैं; क्योंकि वहाँ उनके रहनेमें कोई किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं लगाता, विघ्न नहीं डालता। भगवान् ऐसे घरमें बड़े निःसंकोचभावसे रहते हैं। श्रीरामचरितमानसमें वाल्मीकिजीने कहा भी है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

इस प्रकार संतके हृदयमें भगवान्‌का वास होनेसे, वह जो कार्य करता है, वह भी भगवान् ही करते हैं; वह जो भी सोचता है, वह भगवान् ही सोचते हैं, इत्यादि कथन सर्वथा सत्य है।

संत और भगवान्के विषयमें तीन प्रकारकी बातें मिलती हैं—

(१) दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं।

संत-भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति मलिन
कह दास तुलसी ॥
(विनयपत्रिका)

संत ही भगवान् हैं और भगवान् ही संत हैं अर्थात् संतोंका भगवान्के अतिरिक्त कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहता। केवल भगवान् ही रह जाते हैं। किसीने कहा भी है—

ढूँढ़ा सब जहाँमें पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा लगा तो अब पता मेरा नहीं ॥

(२) वास्तवमें भगवान् भगवान् ही हैं। संत संत ही हैं। संत भगवान्के बराबर नहीं, भगवान् उससे बड़े हैं। संतके ज्ञान, सामर्थ्य, शक्ति आदि सीमित हैं और भगवान्का सब कुछ अनन्त और असीम है। माना, संत भगवान्को प्राप्त हो गया और दूसरेको भी उनकी प्राप्ति करा सकता है। पर वह भगवान् नहीं बन जाता। न्यायसे भी यह ठीक लगता है। जैसे जब हमें कोई संत मिलता है तो हम कहते हैं—'महाराजजी! भगवान्के दर्शन करा दो।' इससे प्रत्यक्ष है कि संतके मिलनेसे हमारी आत्यन्तिक तृप्ति नहीं हुई; उनसे बड़ी जो एक वस्तु—भगवान् है, उसको पानेकी इच्छा बनी रही। इससे स्वाभाविक ही भगवान्का बड़ा होना प्रकट होता है और संत सदा भगवान्को बड़ा मानते आये हैं।

(३) संत भगवान्‌से बढ़कर हैं । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ॥
मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा । राम तें अधिक राम कर दासा ॥

श्रीभगवान्‌ने भी दुर्वासासे कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥

संतोंने तो भगवान्‌को बड़ा बतलाया और भगवान् संतोंको बड़ा बतलाते हैं । परंतु संतोंको भगवान् और संत दोनों ही बड़ा बतलाते हैं । भगवान्‌ने कहीं भी अपनेको संतसे बड़ा बतलाया हो—ऐसा देखनेमें नहीं आया । इस दृष्टिसे बड़े हुए संत ही । और हम यदि अपने लाभके लिये विचार करते हैं, तो भी संत ही बड़े हैं; क्योंकि परमात्माके सच्चिदानन्दरूपमें जीवमात्रके हृदयमें रहते हुए भी संत-कृपा और सत्सङ्गके बिना भगवान्‌के उस परम आनन्दमय स्वरूपके अनुभवसे वञ्चित रहकर जीव दुखी ही रहते हैं । भगवत्स्वरूप-का अनुभव तो भगवद्भक्तिसे ही होता है और वह मिलती है संत-कृपा तथा सत्सङ्गसे—

भगति तात अनुपम सुख मूला । मिलइ जो होहिं संत अनुकूला ॥
भगति स्वतंत्र सकल गुन खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥

अतएव हमारे लिये तो संत ही बड़े हुए । भगवत्कृपासे प्राप्त हुए मानवदेहका फल मनुष्यके कर्म एवं साधनके अनुसार स्वर्ग, नरक अथवा मोक्ष—सभी हो सकता है । किंतु संतोंकी

कृपासे प्राप्त हुए सत्सङ्गका फल केवल परम पद ही होता है।

भगवान् तो दुष्टोंका उद्धार करते हैं उनका विनाश करके, पर संत दुष्टोंका उद्धार करते हैं उनकी वृत्तियोंका सुधार करके। भगवान् अपने बनाये हुए कानूनमें बँधे हुए हैं। परंतु संतोंमें दया आ जाती है। इस प्रकार भी संत भगवान्से बड़े हैं। भगवान् सब जगह मिल सकते हैं, पर संत कहीं-कहीं ही हैं। अतएव वे भगवान्से दुर्लभ भी हैं—

हरि दुरलभ नहिं जगत में, हरिजन दुरलभ होय।
हरि हेर्‌याँ सब जग मिलै, हरिजन कहिं एक होय॥

हमारा उद्धार करनेमें तो संत ही बड़े हुए, अतएव हमें उन्हींको बड़ा मानना चाहिये।

तात्त्विक दृष्टिसे देखें तो संत और भगवान् दोनों एक ही हैं; क्योंकि संत भगवान्से पृथक् अपनी आसक्ति, ममता, रुचि आदि नहीं रखते। अतः वे भगवत्स्वरूप ही हैं—

भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम, बपु एक।
इन के पद बंदन किएँ नासत विघ्न अनेक॥

अब प्रश्न होता है कि संतोंका सेवन किस प्रकार किया जाय? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि संतोंके सेवनका सर्वोत्तम ढंग है उनके मन, उनकी आज्ञाके अनुसार चलना, उनके सिद्धान्तोंका आदरपूर्वक पालन करना। यह संत-सेवनकी ऊँची-से-ऊँची विधि है। इसका कारण यह है कि संतोंको अपना सिद्धान्त जितना प्यारा होता है, उतने उनको अपने प्राण

भी नहीं होते, जो हमलोगोंको सबसे अधिक प्यारे हैं। यही कारण है कि आवश्यकता पड़नेपर वे अपने प्राण छोड़ सकते हैं, पर सिद्धान्त नहीं। अतएव उनके सिद्धान्तका साङ्गोपाङ्ग पालन करना, उनके मनके अनुसार चलना और यदि मनका पता न लगे तो इशारे-आज्ञा आदिके अनुसार चलना चाहिये; यह उनकी सबसे बड़ी सेवा है—'अग्या सम न सुसाहिब सेवा।' अतः शरीरसे सेवा करनेके साथ ही श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनसे भी सेवा की जाय तो कहना ही क्या है! उनका सिद्धान्त जाननेके लिये उनका सङ्ग करके उनसे भगवत्सम्बन्धी बात पूछनी चाहिये; इससे हम अधिक लाभ उठा सकते हैं। संतोंसे पुत्र, स्त्री, धन, मान, बड़ाई आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले सांसारिक पदार्थ चाहना अमूल्य हीरेको पत्थरसे फोड़ना है; यह संतोंके सङ्गका सदुपयोग नहीं है। यों संतोंके कहने आदिसे पुत्र आदिकी प्राप्ति भी हो सकती है, किंतु यह तो उनकी कीमत न समझना है।

संतको प्रायः हम समझते नहीं। हमलोग तो उसकी बाहरी क्रियाओंकी अर्थात् अधिक खाने, नंगा रहने, मिट्टीको सोना बना देने आदि चामत्कारिक बातोंकी विशेषता देखना चाहते हैं; किंतु इन बातोंसे संतपनेका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। संतोंका यह लक्षण कहीं भी नहीं लिखा है। गीतामें स्थान-स्थानपर भक्त आदिके लक्षण लिखे हैं; पर उसमें एक स्थानपर भी नहीं लिखा है कि वे बेटा दे देते हैं, वचनसिद्ध होते हैं आदि।

तो फिर संतोंकी पहचान कैसे हो? संतोंकी पहचानका

सीधा-सा उपाय यही है कि जिस व्यक्तिके सङ्गसे हमारा साधन बढ़े, हममें दैवी सम्पत्ति आये, हमारे आचरणमें न्याय आने लगे, भगवत्तत्त्वका ज्ञान होने लगे, सत्-शास्त्र, भगवान्, महात्मा, परलोक और धर्ममें श्रद्धा बढ़े और भगवान्‌की स्मृति अधिक रहने लगे, हमारे लिये वही संत है। संतोंसे ऐसा ही लाभ लेना चाहिये और उनसे इस प्रकारका आध्यात्मिक लाभ लेना ही सच्चा लाभ है।

भगवान्‌से लाभ उठानेकी पाँच बातें हैं—नाम-जप, ध्यान, सेवा, आज्ञा-पालन और सङ्ग। पर संतोंसे लाभ लेनेमें सङ्ग, आज्ञा और सेवा—ये तीन ही साधन उपयुक्त हैं। संत-महात्मा पुरुष अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान कभी नहीं बताते और जो अपने नाम और रूपका प्रचार करते हैं, वे कदापि संत नहीं। सच्चा संत तो भगवान्‌के ही नाम-जप और ध्यान करनेका उपदेश देता है। हाँ, वह सेवा, आज्ञापालन और सङ्ग—इन तीनके लिये प्रायः मना नहीं करता। सेवामें कुछ संकोच रखता है और जहाँतक सम्भव होता है, नहीं करवाता है। सेवाके दो भेद हैं—(१) पूजा, आरती करना आदि, (२) वस्त्र देना, भोजन देना, अनुकूल वस्तुओंको प्रस्तुत करना इत्यादि। भगवान्‌की तो ये दोनों ही सेवाएँ उचित हैं; परंतु संत पुरुष पहले प्रकारकी सेवा नहीं चाहते और यदि कोई ऐसी सेवाके लिये आग्रह करता है तो वे अपने स्थानपर भगवान्‌की ही वैसी सेवा करवाते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि 'मेरा शरीर हाड़-मांसका है, इसकी सेवासे क्या लाभ !' दूसरी प्रकारकी सेवा वे आश्रम और वर्णके अनुसार

स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार सेवा भी वह संतपनेकी दृष्टिसे नहीं लेता, आश्रम और वर्णकी ही दृष्टिसे लेता है; अतएव इन अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंकी पूर्ति करना अनुचित नहीं। इस प्रकारकी सेवा केवल संत ही नहीं, जो भी हो ले सकता है। यदि कोई संत नहीं है, पर उसे भूख-प्यास लगी है तो वह कोई भी क्यों न हो, जिस व्यक्तिके पास ये भोजनादि वस्तुएँ हों, उससे शरीरनिर्वाहार्थ ले सकता है।

रही आज्ञा-पालनकी बात। सो वे प्रायः कोई बात आज्ञाके रूपमें नहीं कहते। वे अपनी नम्रताके कारण जब किसी व्यक्तिको कुछ कार्य करनेके लिये कहते हैं तब प्रायः ऐसा संकेत किया करते हैं कि अमुक परिस्थितिमें शास्त्रोंकी ऐसी आज्ञा है, भगवान्‌की ऐसी आज्ञा है, संतोंने ऐसा कहा है और किया है आदि-आदि। पर यह निश्चित है कि उनके कथनानुसार करनेसे लाभ अवश्य होता है; अतएव वे जो कुछ निर्देश करें उसे उन्हींकी आज्ञा समझकर पालन करें तो वे उसका विरोध नहीं करते। यह उनकी हमारे प्रति उदारता है, कृपा है; यह उन्होंने हमारे लिये छूट दे रखी है। आज्ञापालनका स्थान सेवामें सबसे ऊँचा माना गया है। शरीरकी पूजासे उनके वचन अधिक महत्त्वके हैं। अतएव वचनोंको ही प्रधानता देनी चाहिये। एक संत थे। उनके पास रहनेवाले श्रद्धालु व्यक्तियोंमेंसे एक व्यक्तिकी एक दिन संतने परीक्षा लेनी चाही। वे बोले— 'मेरी कमरमें दर्द हो रहा है, जरा अपने पैरसे इसे दबा दो।' श्रद्धालुने कहा—'महाराज! आपके शरीरपर पैर कैसे रखूँ?' संतने

तुरंत उत्तर दिया, ठीक है, मेरे शरीरपर तो तुम पैर नहीं रखते, पर मेरी जबानपर तो पैर रख दिया न ?' यह एक दृष्टान्त है । इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि सेवामें शरीरकी अपेक्षा वचनोंके पालनको अधिक महत्त्व दे । हाँ, यह सम्भव है कि हम संतके वचनका पूरा पालन न कर सकें; किंतु यदि मनमें वचन-पालनकी नीयत है तथा उसके लिये यथासामर्थ्य प्रयत्न भी किया गया है तो फिर चाहे उसका अक्षरशः पालन न भी हो पाया हो तो भी उससे बहुत बड़ा लाभ होता है ।

यदि संतोंके वचनोंका भाव कहीं पूर्णरूपसे समझमें नहीं आये तो नम्रतापूर्वक उन्हींसे पूछकर समाधान कर लेना चाहिये; पर समझमें आ जानेपर पालन करनेमें किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं लानी चाहिये । संतके वचन-पालनमें यदि कहीं उनकी सेवाका भी त्याग करना पड़े तो वह भी कर देना चाहिये । सेवा करनेसे जब लाभ है तो सेवा-त्यागसे अधिक लाभ होना चाहिये; क्योंकि जो कीमती चीज है, उसका त्याग उस चीजसे भी बड़ा है फिर यह त्याग यदि संतकी आज्ञासे ही किया जाता है, तो वह और भी अधिक महत्त्वकी वस्तु है । सच्चा श्रद्धालु इसमें क्यों चूकेगा । हाँ, एक बात है जो सेवाके कष्टसे बचकर सेवाका त्याग करते हैं, वे तो सेवाके महत्त्वको जानते ही नहीं । उनको तो सेवा करनेमें कष्टका अनुभव होता है । इसलिये वे उस लाभसे वञ्चित रहते हैं । संत कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट देना नहीं चाहता, इसलिये वह ऐसे व्यक्तियोंसे सेवा क्यों करवायेगा, क्योंकि उनको सेवा करानेकी

कोई भूख तो है ही नहीं। जो लोग दूसरोंसे अपनी सेवा करवाना चाहते हैं, उनके अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहंकारके कारण यह नहीं सूझ पड़ता कि किसको क्या कष्ट और हानि हो रही है; किंतु संतोंके निःस्वार्थ हृदयमें तो प्रकाश है। वे तो जानते हैं कौन व्यक्ति सेवामें सुखका अनुभव करता है और कौन दुःखका।

सत्सङ्गके लिये तो संत स्वयं अपनी ओरसे चले जाते हैं; क्योंकि प्रेमी जिज्ञासुओंके पास जानेसे भगवद्-वाक्योंका मनन, विचार और अनुशीलन होता है, जो उन्हें अत्यन्त प्यारे हैं। इतना ही नहीं, वे अपना सङ्ग करनेवाले व्यक्तिका उपकार भी मानते हैं कि इसके कारण हमारा कुछ समय भगवच्चर्चामें व्यतीत हुआ। काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा—'महाराज! मुझपर आपकी बड़ी कृपा हुई, जो मुझे सत्सङ्ग दिया।'

तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा। नाथ कीन्ह मो पर अति छोहा॥
पूँछिहु राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥
(रामचरितमानस)

संतोंकी बातें इतनी अलौकिक हैं कि हम उनका विवेचन भी नहीं कर सकते, फिर अनुभवकी तो बात ही अलग है!

अपनी बुद्धिसे संतोंकी पहचान करना बड़ा कठिन है। उनकी पहचान तो संत एवं भगवान्‌की कृपासे ही सम्भव है। कसौटीसे पहचान करनेपर तो हम ही फेल हो जाते हैं; क्योंकि हमारी कसौटी ही गलत है। संतोंकी पहचान पहले बताये हुए तरीकेसे ही की जा सकती है कि (१) जिस व्यक्तिके सङ्ग, वार्तालाप तथा दर्शनसे

हममें दैवी सम्पत्ति आये, भगवान्‌में हमारी रुचि बढ़े, आध्यात्मिक पथपर हम अग्रसर हों, (२) जो हमसे कभी किंचिन्मात्र किसी तरहकी सेवाकी इच्छा न रखता हो, (३) जो हमारा सदा ही बिना स्वार्थके हित करता रहता हो एवं (४) हमारी दृष्टिमें जो आध्यात्मिक विषयमें सबसे बढ़कर जानकार हो, वही हमारे लिये संत है । एवं स्थूल रीतिसे संतकी पहचान करनेका यह उपाय भी है कि सच्चा संत स्त्री, सम्पत्ति नहीं चाहता, मान-बड़ाई नहीं चाहता, जितनी भौतिक वस्तुएँ हैं उनकी उसको इच्छा या लालसा नहीं रहती ।

संतोंका संग किया जाय तो वह कभी निष्फल नहीं जाता । पर उनका महत्त्व समझकर उनके सिद्धान्तानुसार आचरण करते हुए उनका सङ्ग करना उनका वास्तविक सङ्ग करना है । इस प्रकार करनेसे ही उनके सङ्गका वास्तविक लाभ शीघ्र प्रकट होता है ।

इसपर यह शङ्का होती है कि अग्नि अनजानमें भी स्पर्श किये जानेपर जला डालती है, इसी प्रकार अनजानमें भी किया हुआ संतोंका सङ्ग पापोंका नाशक अवश्य होना चाहिये । तो इसका उत्तर यह है कि यह बात उचित ही है । पापोंका नाश तो अनजानमें भी किये हुए संत-सङ्गसे अवश्य होता है; परंतु जिस प्रकार अग्निमें दाहिकाशक्ति, प्रकाशिकाशक्ति, पाचनशक्ति एवं स्वर्ग तथा मोक्ष देनेकी भी शक्ति है, पर दाहिकाशक्तिको छोड़कर अन्य शक्तियोंका लाभ हम बिना जाने नहीं उठा सकते । अग्नि अनजानमें स्पर्श करनेपर जलाता तो है, पर उससे जलानामात्र ही

होता है। किंतु जो उस अग्निको अग्नि (अग्निका वास्तविक महत्त्व) जानकर उसके अनुकूल क्रिया करते हैं, वे उससे प्रकाश भी ले सकते हैं और उससे रोटी बनाकर अपनी भूख भी मिटा सकते हैं। इतना ही नहीं, अग्निसे ये काम तो श्रद्धारहित व्यक्ति भी ले सकता है; पर वैदिक मन्त्र और परलोकमें श्रद्धा रखनेवाला मनुष्य तो वैदिक मन्त्रोंसे श्रद्धापूर्वक विधिसहित अग्निमें आहुति देकर स्वर्गप्राप्ति भी कर सकता है और जो भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे अग्निमें आहुति देकर यज्ञ करता है, वह तो अग्निसे भगवान्‌की प्राप्ति भी कर सकता है। इसी प्रकार संतोंको न जाननेपर भी उनके सङ्गसे पापोंका नाश तो होता ही है; पर जाने बिना परमात्म-विषयक ज्ञान और सांसारिक पदार्थोंसे वैराग्य नहीं होता। संतोंको जानकर उनका सङ्ग करनेसे सत्-असत्, कर्तव्य-अकर्तव्य, हेय-उपादेय और सार-असारका ज्ञान एवं अपने लिये अभी और परिणाममें अनिष्टकारक वस्तु तथा क्रियाओंका त्याग हो सकता है एवं श्रद्धापूर्वक निष्कामभावसे उनकी आज्ञाके अनुसार अनुष्ठान करनेसे तो अज्ञान, क्लेश, कर्म, विकार, वासना आदिका अत्यन्त अभाव होकर परमानन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यह सब लाभ संत-महात्माओंको जानकर उनका श्रद्धापूर्वक सङ्ग और तदनुकूल आचरण करनेसे ही होता है।

इस विषयमें एक बात और भी है। अग्निसे जलना तभी होता है, जब अग्नि और अपने बीचमें कोई व्यवधान नहीं होता। पैरमें जूता पहनकर अग्निका स्पर्श किया जाय तो वह जला भी

नहीं सकता। इसी प्रकार यदि संतोंके सङ्गमें कुतर्क, निन्दा, तिरस्कार आदिकी आड़ लगा दी जाय तो पापनाशरूपी लाभ भी नहीं हो सकता। अग्नि तो अनजानमें स्पर्श किये जानेपर केवल जलाता ही है; पर यदि कोई संतके प्रति तिरस्कार और निन्दाका भाव नहीं रखकर अनजानमें भी उनका सङ्ग करता रहे तो संतोंका सङ्ग तो उसके पापनाशके सिवा उसे परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी भी बना देता है। जैसे पारस और लोहेको टकराते रहो तो पहले लोहेपर लगी हुई मिट्टी, जंग आदि व्यवधान दूर होंगे और बादमें स्पर्श होनेपर लोह स्वर्ण बन जायगा। बस, इसी प्रकार बार-बारके सङ्गसे पापरूपी मल (मिट्टी, जंग आदि) दूर हो जायगा और अन्तमें कल्याण हो जायगा। ऋषिकेश (उत्तराखण्ड) की ओर देखा होगा, गङ्गाजीमें गोल-गोल पत्थर मिलते हैं। पहाड़ोंकी चट्टानके टेढ़े-मेढ़े पत्थर पानीके प्रवाहमें लुढ़कते-लुढ़कते गोल हो गये; उन्होंने कोई उद्योग नहीं किया और न उनमें गोल होनेकी इच्छा ही थी। पर प्रवाहमें पड़े रहे तो गोल और चिकने हो गये। इसी प्रकार संत-महात्माओंकी शरणमें पड़ा रहे तो अन्तमें कल्याण हो ही जाता है।

श्रद्धाके दो भेद हैं—(१) स्थायी और (२) अस्थायी। स्थायी श्रद्धा वहाँ होती है, जिसमें कभी कमी नहीं हो सकती। पर अस्थायी श्रद्धा बाजारू भावकी तरह घटती-बढ़ती रहती है। स्थायीमें बढ़नेकी गुंजाइश तो है; पर वह घट कभी नहीं सकती। अस्थायी श्रद्धा भी बढ़ते-बढ़ते अन्तमें स्थायी श्रद्धामें परिणत हो

सकती है; क्योंकि अस्थायी श्रद्धामें जो वास्तविक श्रद्धाका अंश रहता है, वह स्थायी श्रद्धामें शामिल होता रहता है। संतोंका बार-बार सङ्ग करनेसे उनके गुण-प्रभावका ज्ञान होनेपर तथा उनकी आज्ञा-पालन करनेसे उनके प्रति श्रद्धा-भावका विकार होता रहता है और अन्तमें स्थायी श्रद्धाका उदय हो जाता है।

संत सर्वदा रहते हैं। ऐसा कोई भी समय नहीं होता, जब पृथ्वीमण्डलमें यति, सती, धर्मात्मा और संत पुरुष न हों। आज भी संत पुरुष मिल सकते हैं। और ऐसे संत मिल सकते हैं, जो हमारा उद्धार कर सकते हैं। पर हमें मिलें कैसे ? हममें उनके मिलनेकी लालसा ही नहीं। अतएव यह लालसा बढ़ानी चाहिये कि हमें संत, सच्चे संत मिलें।

संतोंके जीवनकालमें यदि कोई उनसे लाभ लेनेवाला न हो, तो भी उनके सिद्धान्त वायुमण्डलमें स्थिर हो जाते हैं, जिससे भविष्यमें यदि कोई लाभ लेनेवाला उत्पन्न होता है तो उनसे लाभ उठा लेता है।

ऐसी बात नहीं कि सभी संत एक-से हों। उनकी वास्तविक स्थितिमें भेद न रहनेपर भी वर्ण, आश्रम, सङ्ग, स्वाध्याय, प्रकृति, साधनकी प्रणाली आदिका साधनकालमें अन्तर रहनेके कारण सिद्धावस्थामें भी उनकी मान्यता, आचरण और उपदेशप्रणालीमें अन्तर पाया जाता है।

संत लोग किसीको अपना चेला-चेली नहीं बनाते। पर यदि

कोई अपनेको उनका अनुयायी मान ले तो इसमें उसको कौन रोक सकता है ? जो व्यक्ति ईश्वरपर भरोसा करके सच्चे हृदयसे अपने आपको किसी संतका अनुयायी मान लेता है, उसका भार भगवान्‌पर आ जाता है। पर मान्यता होनी चाहिये असली। मतलब यह है कि साधकके मनमें इच्छा हो केवल भगवत्-प्राप्तिकी ही तथा श्रद्धा हो सिद्धान्तको लेकर ही; तो फिर व्यक्तिपर आग्रह न होने तथा इच्छा भौतिक न होनेके कारण वह कहीं भी ठगा नहीं सकता। इस प्रकार यदि मान्यता असली हुई और भगवान् देखेंगे कि इस व्यक्तिका कल्याण इस संतमें श्रद्धा रहनेसे हो सकता है, तब तो वे उसकी श्रद्धा उस संतमें दृढ़ कर देंगे; किंतु यदि वह संत न हो और उसमें श्रद्धा रहनेसे उस साधकको हानि होनेकी सम्भावना हो तो भगवान् उसकी श्रद्धा और कहीं लगा देंगे; क्योंकि साधकके न जाननेपर भी भगवान् तो साधक और संत दोनोंको ही जानते हैं और अनजानमें भी रक्षा करना भगवान्‌का सर्वभूतसुहृद्स्वभाव है ही। अतः दोनों अवस्थाओंमें उसका उद्धार होना निश्चित है ही; क्योंकि मेरा कल्याण भगवान् अवश्य करेंगे ऐसा उसका भगवान्‌पर दृढ़ भरोसा रहता है। एकलव्यके भावसे उसको सफलता मिल गयी। वास्तवमें श्रद्धा-भक्ति असली चीज है, नेग-चारसे भगवान् नहीं मिल सकते। संतके विषयमें भी यही बात है। नेग-चार करके चाहे हम किसीको गुरु न बनायें; पर श्रद्धा-भक्तिसे संतको गुरु मानकर उनकी सेवा, आज्ञा-पालन और सङ्ग करें, लाभ हो ही जायगा।

सुख कैसे मिले ?

जो मन-इन्द्रियोंको अनुकूल जान पड़ता है, वह सुख और जो प्रतिकूल प्रतीत होता है, वह दुःख है। यह है सुख-दुःखकी साधारण जनताद्वारा की हुई परिभाषा !

हम सोचते हैं कि हमें रोटी, कपड़ा, मकान, सवारी, जमीन, खेत, न्याय, विद्या और औषध आदि वस्तुएँ सस्ती तथा पुष्कल-मात्रामें प्राप्त हो जायँ तो हम सुखी हो जायँगे। किंतु विचारिये—जिसके पास उक्त पदार्थ प्रचुर मात्रामें हैं, क्या वह वास्तवमें सुखी है ? कदापि नहीं; क्योंकि पदार्थोंके बढ़नेसे उनकी लालसा बढ़ती है और वस्तुओंकी लालसा ही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। गीतामें अर्जुनने भगवान्‌से जब दुःखोंके कारणरूप पापोंका हेतु पूछा, तब भगवान्‌ने काम (लालसा) को ही पापाचरणका हेतु

बतलाया। दुःखका साक्षात् कारण भी लालसा ही है। कैदमें, नरकादिमें या जहाँ-कहीं भी कोई दुखी देखनेमें आते हैं उन सबके दुःखोंके कारण पहले कभी लालसासे किये हुए पाप या वर्तमानमें पदार्थोंकी लालसा ही है। लालसा (चाह) करनेसे पदार्थ मिलते भी नहीं। संसारी लोग भी चाहनेवालेको नहीं देते; बल्कि जो नहीं लेना चाहता, उसे आग्रह और प्रसन्नतापूर्वक देना चाहते हैं। किसी व्यक्तिको यदि सम्पूर्ण संसारकी उपर्युक्त सभी मनचाही वस्तुएँ मिल जायँ तब भी उनसे तृप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत उसकी लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायगी—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' इस लालसाके बढ़नेका अर्थ यही है कि आपको अपनेमें कमीका अनुभव है, और जबतक अपनेमें कमीका अनुभव होगा, तबतक सुख हो ही कैसे सकता है, प्रत्युत दुःख ही बढ़ेगा।

गम्भीरतासे विचार कीजिये तो आपको मालूम हो जायगा कि पदार्थोंके मिलनेसे सुख नहीं होता, वरं पदार्थ मिलनेसे दुःखकी कारणभूत इच्छा (चाह) और बढ़ती है। कहा भी है—

> यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥
> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

'पृथ्वीमें जितने भी धान्य-चावल, जौ, गेहूँ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब मिलकर एक मनुष्यकी तृप्तिके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं, ऐसा मानकर तृष्णाका शमन करे। क्योंकि

भोग-पदार्थोंके उपभोगसे कामना कभी शान्त नहीं होती, बल्कि जैसे घीकी आहुति डालनेपर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगवासना भी भोगोंके भोगनेसे प्रबल होती जाती है।

सभी मनुष्य चाहते तो सुख ही हैं, परंतु सुखकी सामग्री इन संसारकी वस्तुओंको ही समझते हैं, इसलिये इन्हींको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते देखे जाते हैं। आज पृथ्वीपर ढाई अरब मनुष्य माने जाते हैं, उनमेंसे प्रत्येक व्यक्तिको संसारकी समस्त वस्तुएँ कैसे मिल सकती हैं ? क्योंकि वस्तुओंपर सभीका हक है, एवं वस्तुएँ सब मिलकर भी सीमित हैं और उनके चाहनेवाले हैं बहुत अधिक। जब एकको एक भी पूरी नहीं मिल सकती, तब प्रत्येकको सभी वस्तुएँ पूरी कैसे मिलें ? मान लीजिये, यदि सभीको मिल भी जायँ, तब भी इन वस्तुओंसे सुख होना सम्भव नहीं; क्योंकि चेतन जीवको केवल पूर्ण चिन्मयतासे ही शान्ति मिल सकती है, अपूर्ण और सीमित जड वस्तुओंसे नहीं। यदि इन नश्वर पदार्थोंके संयोगसे मूर्खतावश जो सुख प्रतीत होता है, उसे ही सुख मान लें, तो भी जड वस्तुएँ तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् हैं तथा जीव नित्य और अविनाशी है। अतः इन दोनोंका नित्य संयोग कैसे रह सकता है ?

तो फिर सुख कैसे मिले, सुखका उपाय क्या है ? सुखका उपाय है—चिन्मय परमात्माकी प्राप्तिका लक्ष्य और धर्म तथा न्यायका आचरण। अभिप्राय यह है कि जब हमारे आचरण धर्मयुक्त होंगे और जब हम न्यायसे प्राप्त अपने हकके अतिरिक्त और कुछ ग्रहण

करनेकी इच्छा नहीं करेंगे, तभी असली सुखकी उपलब्धि हो सकेगी। यह होगी त्याग और उदारता आनेसे। जिन वस्तुओंको हम सुख देनेवाली समझते हैं, उनको जब हम सभी त्याग और उदारताके भावसे एक दूसरेको देना चाहेंगे और लेना नहीं चाहेंगे तब उन वस्तुओंकी स्वतः ही बहुतायत हो जायगी और लेनेवाले हो जायँगे कम। उस समय हमारी उदारताके फलस्वरूप दैवी शक्ति भी पूरा काम करेगी, जिससे वस्तुओंका उत्पादन और रक्षण भी अधिक होगा। इस प्रकार सर्वत्र सुखका ही साम्राज्य छा जायगा।

त्याग और उदारताकी भावनासे हमारा मन ज्यों-ज्यों जड पदार्थोंकी ओरसे हटता जायगा, त्यों-त्यों वह चेतन परमात्माकी ओर लगेगा। जडकी ओरसे दृष्टि हटनेपर वह चेतनकी ओर स्वतः ही प्रवृत्त होगी। तब उसकी जो यह भूल धारणा थी कि इन पदार्थोंमें सुख है, वह मिट जायगी। तथा वह चेतन परमात्मा बोधस्वरूप और आनन्दस्वरूप है, यों समझकर उसकी ओर लक्ष्य दृढ़ हो जानेपर जीव स्वयं ही ज्ञानवान् और आनन्दस्वरूप हो जायगा। उस स्थितिमें ऐसे पुरुषके दर्शन, भाषण और स्पर्शसे दूसरे जीवोंको भी सुख पहुँचेगा; फिर वह स्वयं महान् सुखी है, इसमें तो कहना ही क्या है? जो अपने स्वार्थका त्याग करके जनताका हित चाहता है और बदलेमें किसी भी चीजको लेना नहीं चाहता, वही वास्तवमें सुखी है।

कुछ भाइयोंकी यह धारणा है कि धनी आदमियोंके पास जो धन है उसे छीनकर अभावग्रस्तोंको बाँट दिया जाय तो सब सुखी

हो जायँ, किंतु सोचना चाहिये कि धनी आदमियोंको जिस तरहका सुख प्राप्त है, वह तो दुःखवाला (दुःखपूर्ण) ही सुख है, जिससे वे स्वयं रात-दिन जलते रहते हैं, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती। अतः उनसे जो सुख मिलेगा, वह तो उसी प्रकारका होगा, जो दुःखपूर्ण है। तथा जिससे धन छीना जायगा, उसे तो महान् कष्ट होगा ही। उसे कष्ट देकर लेनेसे लेनेवालेको भी सुख कैसे होगा, जलन ही होगी तथा वह धन जिसे दिया जायगा, जहाँ जायगा, वहाँ भी दुःख, अशान्ति और जलन ही प्राप्त होगी।

यह सिद्धान्त है कि देनेवाला दे ही दे, और लेनेवाला सेवक, परिचारक लेना ही न चाहे, तो इससे देनेवालेमें तो उदारता पैदा होकर प्रसन्नता होगी और देनेवालेकी प्रसन्नतासे लेनेवालेको भी त्यागपूर्वक लेनेसे आनन्द आयेगा तथा वह अमृतमय पदार्थ जहाँ जायगा, वहाँ भी सुख, शान्ति और आनन्दका ही वातावरण पैदा करेगा। तभी सबको सुख मिलेगा और तभी सबके हृदयके भाव उदार होंगे; क्योंकि सुख वस्तुओंमें नहीं है, सुख है हमारे हृदयकी उदारतामें। शास्त्रका वचन है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'संसारमें जो भी कामोपभोगका सुख है तथा जो स्वर्गीय महान् सुख है—ये दोनों ही तृष्णानाशसे होनेवाले सुखके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।'

किसी कविने भी क्या ही सुन्दर कहा है—

चाह गयी चिंता मिटी मनुवा बेपरवाह ।
जिसको कछू न चाहिये सोई शाहन्शाह ॥

अतः यह बात सिद्ध हो गयी कि पदार्थोंके अभावमें दुःख नहीं; दुःख है पदार्थोंके अभावके अनुभवमें । मान लीजिये, एक आदमीने एकादशीको निराहार व्रत किया और एक दूसरे आदमीको उस दिन कुछ भी उपार्जन न होनेसे निराहार रहना पड़ा । इन दोनोंको ही अन्नादि पदार्थोंके संयोगका अभाव है; किंतु एक प्रसन्नतापूर्वक व्रत रखकर सुखी होता है और दूसरा पेटमें अन्न न पहुँचनेसे दुःखका अनुभव करता है, अतः अभावका अनुभव ही दुःख है । यदि अभावमें ही दुःख हो तब तो विरक्त साधु-संन्यासियोंको भी दुःख होना चाहिये; क्योंकि उनके पास न तो स्त्री है, न धन है, न मकान है, न कपड़े हैं, न सवारी है और न पहलेसे किया हुआ उदरपूर्तिके लिये कोई प्रबन्ध है । किंतु इन सबके न रहते हुए भी वे सब बड़े सुखी हैं; क्योंकि उनके पास जाकर बड़े-बड़े महाराजा और धनी भी अपने अन्तःकरणकी जलन मिटाकर सुखी होते हैं । इसका कारण यह है कि वे पदार्थोंके अभावमें भी नित्य भावरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी अनुभूति करके आनन्दमग्न रहते हैं । वास्तवमें अभावका अनुभव होता है मूर्खतासे । इसलिये चाहे कितना ही अभाव क्यों न हो, मनुष्यको अभावका अनुभव न करके नित्य भावरूप परमात्माका चिन्तन करना चाहिये । जो पदार्थोंके न होनेसे या उनकी कमी होनेसे अभाव या कमीका अनुभव नहीं करेगा, वह भगवान्‌के मङ्गलविधानके अनुसार आये हुए दुःखमें

दुखी नहीं होगा, प्रत्युत उसमें अपने पूर्वकृत पापोंका नाश और भगवान्‌की कृपा समझकर सुखी ही होगा ।

जो धनको महत्त्व देकर रोटी, कपड़े आदि पदार्थोंसे सुख पाना चाहते हैं, वे भूल करते हैं । जडको महत्त्व देनेसे उसके द्वारा अधर्म होगा और अधर्मका आचरण होनेसे सुख कभी न हुआ है और न होगा ही । इसके विपरीत, यदि सत्य चेतन और अक्षयसुखके भण्डार भगवान्‌को महत्त्व देकर उनके द्वारा (भगवान्‌के भावोंके अनुभव और प्रचारद्वारा) सुख पाना चाहेंगे तो सदाके लिये सुखकी प्राप्ति हो जायगी ।

इसलिये हमें परमात्माकी प्राप्तिका ही लक्ष्य बनाना चाहिये । तथा सांसारिक पदार्थोंसे सदा ही विरक्त रहना और उनकी लालसा-को मनमें आने ही नहीं देना चाहिये । साथ ही तत्परतासे परमात्माके चिन्तनमें लग जाना चाहिये और उस चिन्तनमें सहायक सत्-शास्त्रोंका अध्ययन, संत-महात्माओंका सङ्ग, परमात्मासे स्तुति-प्रार्थना तथा निरन्तर नामका जप आदि साधन निष्काम भावसे करने चाहिये ।

कलियुगमें तो जो गुप्तरूपसे, निष्कामभावपूर्वक, निरन्तर ध्यानसहित, आनन्द और आदरसे केवल परमात्माके नामका जप करता है, उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र और सहज ही हो जाती है—

गुप्त अकाम निरंतर, ध्यानसहित सानंद ।
आदरजुत जपसे तुरत, पावत परमानंद ॥

बालहितोपदेश-माला

१—सबको सूर्योदयसे पहले उठना चाहिये ।

२—उठते ही भगवान्का स्मरण करना तथा 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥' इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये ।

३—अपने बड़ोंको प्रणाम करना चाहिये ।

४—शौच-स्नान करके दंड-बैठक, दौड़-कुश्ती आदि शारीरिक और आसन-प्राणायाम आदि यौगिक व्यायाम करने चाहिये ।

५—प्रातःकाल 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपनी चाहिये । और जिनका यज्ञोपवीत हो चुका है, उनको सूर्योदयसे पूर्व संध्या और कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये ।

६—श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका नित्य अर्थसहित पाठ करना चाहिये। इसके लिये ऐसा क्रम रक्खा जाय तो अच्छा है कि प्रतिपदा तिथिको पहले अध्यायका, द्वितीयाको दूसरेका, तृतीयाको तीसरेका—इस तरह एकादशी तिथिको ११ वें अध्यायतक पाठ करके, द्वादशीको १२ वें और १३ वें अध्यायोंका, त्रयोदशीको १४ वें और १५ वेंका, चतुर्दशीको १६ वें और १७ वेंका तथा अमावस्या या पूर्णिमाको १८ वें अध्यायका पाठ कर ले। इस प्रकार पंद्रह दिनोंमें अठारहों अध्यायोंका पाठ-क्रम रखकर एक महीनेमें सम्पूर्ण गीताके दो पाठ पूरे कर लेने चाहिये। तिथिक्षय हो तब ७ वें और ८ वें अध्यायका पाठ एक साथ कर लेना तथा तिथि-वृद्धि होनेपर १६ वें और १७ वें अध्यायका पाठ अलग-अलग दो दिनमें कर लेना चाहिये।

७—विद्यालयमें ठीक समयपर पहुँच जाना और भगवत्स्मरण-पूर्वक मन लगाकर पढ़ना चाहिये। किसी प्रकारका ऊधम न करते हुए मौन रहकर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपकी स्मृति रखते हुए प्रतिदिन जाना-आना चाहिये।

८—विद्यालयकी स्तुति-प्रार्थना आदिमें अवश्य शामिल होना और उनको मन लगाकर प्रेमभावपूर्वक करना चाहिये; क्योंकि मन न लगानेसे समय तो खर्च हो ही जाता है और लाभ होता नहीं।

९—पिछले पाठको याद रखना और आगे पढ़ाये जानेवाले पाठको उसी दिन याद कर लेना उचित है, जिससे पढ़ाईके लिये सदा उत्साह बना रहे।

१०—पढ़ाईको कभी कठिन नहीं मानना चाहिये ।

११—अपनी कक्षामें सबसे अच्छा बननेकी कोशिश करनी चाहिये ।

१२—किसी विद्यार्थीको पढ़ाईमें अपनेसे अग्रसर होते देखकर खूब प्रसन्न होना चाहिये और यह भाव रखना चाहिये कि यह अवश्य उन्नति कर रहा है, इससे मुझे और भी बढ़कर उन्नति करनेका प्रोत्साहन एवं अवसर प्राप्त होगा ।

१३—अपने किसी सहपाठीसे डाह नहीं करनी चाहिये और न यही भाव रखना चाहिये कि वह पढ़ाईमें कमजोर रह जाय, जिससे उसकी अपेक्षा मुझे लोग अच्छा कहें ।

१४—किसी भी विद्या अथवा कलाको देखकर उसमें दिलचस्पीके साथ प्रविष्ट होकर समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि जानने और सीखनेकी उत्कण्ठा विद्यार्थियोंका गुण है ।

१५—अपनेको उच्च विद्वान् मानकर कभी अभिमान न करना चाहिये; क्योंकि इससे आगे बढ़नेमें बड़ी रुकावट होती है ।

१६—नित्यप्रति बड़ोंकी तथा दीन-दुखी प्राणियोंकी कुछ-न-कुछ सेवा अवश्य करनी चाहिये ।

१७—किसी भी अङ्गहीन, दुखी, बेसमझ, गलती करनेवालेको देखकर हँसना नहीं चाहिये ।

१८—मिठाई, फल आदि खानेकी चीजें प्राप्त हों तो उन्हें दूसरोंको बाँटकर खाना चाहिये ।

१९—न्यायसे प्राप्त हुई चीजको ही काममें लाना चाहिये ।

२०—दूसरेकी चीज उसके देनेपर भी न लेनेकी चेष्टा रखनी चाहिये ।

२१—हर एक आदमीके द्वारा स्पर्श की हुई मिठाई आदि अन्नकी बनी खाद्य वस्तुएँ नहीं खानी चाहिये ।

२२—कोई भी अपवित्र चीज नहीं खानी चाहिये ।

२३—कोई भी खाने-पीनेकी चीज ईश्वरको अर्पण करके ही उपयोगमें लेनी चाहिये ।

२४—भूखसे कुछ कम खाना चाहिये ।

२५—सदा प्रसन्नतापूर्वक भोजन करना चाहिये ।

२६—भोजनके समय क्रोध, शोक, दीनता, द्वेष आदि भाव मनमें लाना उचित नहीं; क्योंकि इनके रहनेसे भोजन ठीक नहीं पचता ।

२७—भोजन करनेके पहले दोनों हाथ, दोनों पैर और मुँह—इन पाँचोंको अवश्य धो लेना चाहिये ।

२८—भोजनके पहले और पीछे आचमन जरूर करना चाहिये ।

२९—भोजनके बाद कुल्ले करके मुँह साफ करना उचित है; क्योंकि दाँतोंमें अन्न रहनेसे पायरिया आदि रोग हो जाते हैं ।

३०—चलते-फिरते और दौड़ते समय एवं अशुद्ध अवस्थामें तथा अशुद्ध जगहमें खाना-पीना नहीं चाहिये; क्योंकि खाते-पीते समय सम्पूर्ण रोम-कूपोंसे शरीर आहार ग्रहण करता है ।

३१—स्नान और ईश्वरोपासना किये बिना भोजन नहीं करना चाहिये ।

३२–लहसुन, प्याज, अंडा, मांस, शराब, ताड़ी आदिका सेवन कभी नहीं करना चाहिये।

३३–लेमनेड, सोडा और बर्फका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि इनसे संसर्ग-जन्य रोगादि आनेकी भी बहुत सम्भावना है।

३४–उत्तेजक पदार्थोंका सेवन कदापि न करे।

३५–मिठाई, नमकीन, बिस्कुट, दूध, दही, मलाई, चाट आदि बाजारकी चीजें नहीं खानी चाहिये; क्योंकि दूकानदार लोभवश स्वास्थ्य और शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिससे बीमारियाँ होनेकी सम्भावना रहती है।

३६–बीड़ी, सिगरेट, भाँग, चाय आदि नशीली चीजोंका सेवन कभी न करे।

३७–अन्न और जलके सिवा किसी और चीजकी आदत नहीं डालनी चाहिये।

३८–दाँतोंसे नख नहीं काटना चाहिये।

३९–दातुन, कुल्ले आदि करनेके समयको छोड़कर अन्य समय मुँहमें अँगुली नहीं देनी चाहिये।

४०–पुस्तकके पन्नोंको अँगुलीमें थूक लगाकर नहीं उलटना चाहिये।

४१–किसीकी भी जूठन खाना और किसीको खिलाना निषिद्ध है।

४२–रेल आदिके पाखानेके नलका अपवित्र जल मुँह धोने, कुल्ला करने या पीने आदिके काममें कदापि न लेना चाहिये।

४३–कभी झूठ न बोले। सदा सत्य भाषण करे।

४४–कभी किसीकी कोई भी चीज न चुराये । परीक्षामें नकल करना भी चोरी ही है तथा नकल करनेमें मदद देना चोरी कराना है । इससे सदा बचना चाहिये ।

४५–माता, पिता, गुरु आदि बड़ोंकी आज्ञाका उत्साह-पूर्वक तत्काल पालन करे । बड़ोंके आज्ञा-पालनसे उनका आशीर्वाद मिलता है, जिससे लौकिक और पारमार्थिक उन्नति होती है ।

४६–किसीसे लड़ाई न करे ।

४७–किसीको गाली न बके ।

४८–अश्लील–गंदे शब्द उच्चारण न करे ।

४९–किसीसे भी मार-पीट न करे ।

५०–कभी रूठे नहीं और जिद भी न करे ।

५१–कभी क्रोध न करे ।

५२–दूसरोंकी बुराई और चुगली न करे ।

५३–अध्यापकों एवं अन्य गुरुजनोंकी कभी हँसी-दिल्लगी न उड़ाये, प्रत्युत उनका आदर-सत्कार करे तथा जब पढ़ानेके लिये अध्यापक आयें और जायँ, तब खड़े होकर और नमस्कार करके उनका सम्मान करे ।

५४–समान अवस्थावाले और छोटोंसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करे ।

५५–नम्रतापूर्ण, हितकर, थोड़े और प्रिय वचन बोले ।

५६–सबके हितकी चेष्टा करे ।

५७–सभामें सभ्यतासे आज्ञा लेकर नम्रतापूर्वक चले । किसी-को लाँघकर न जाय ।

५८–सभा या सत्सङ्गमें जाते समय अपने पैरका किसी दूसरेसे स्पर्श न हो जाय, इसका ध्यान रक्खे; अगर भूलसे किसीके पैर लग जाय तो उससे हाथ जोड़कर क्षमा माँगे ।

५९–सभामें बैठे हुए मनुष्योंके बीचमें जूते पहनकर न चले ।

६०–सभामें भाषण या प्रश्नोत्तर करना हो तो सभ्यतापूर्वक करे तथा सभामें अथवा पढ़नेके समय बातचीत न करे ।

६१–सबको अपने प्रेमभरे व्यवहारसे संतुष्ट करनेकी कला सीखे ।

६२–आपसी कलहको पास न आने दे । दूसरोंके कलहको भी अपने प्रेमभरे बर्ताव और समझानेकी कुशलतासे निवृत्त करनेका प्रयत्न करे ।

६३–कभी प्रमाद और उद्दण्डता न करे ।

६४–पैर, सिर और शरीरको बार-बार हिलाते रहना आदि आदतें बुरी हैं, इनसे बचे ।

६५–कभी किसीका अपमान और तिरस्कार न करे ।

६६–कभी किसीका जी न दुखाये ।

६७–कभी किसीसे दिल्लगी न करे ।

६८–शौचाचार, सदाचार और सादगीपर विशेष ध्यान रक्खे ।

६९–अपनी वेष-भूषा, अपने देश और समाजके अनुकूल तथा सादी रक्खे । भड़कीले, फैशनदार और शौकीनीके कपड़े न पहने ।

७०–इत्र, फुलेल, पाउडर और चर्बीसे बना साबुन, वैसलिन आदि न लगाये ।

७१–जीवन खर्चीला न बनाये अर्थात् अपने रहन-सहन, खान-पान, पोशाक-पहनावे आदिमें कम-से-कम खर्च करे।

७२–शरीरको और कपड़ोंको साफ तथा शुद्ध रक्खे।

७३–शारीरिक और बौद्धिक बल बढ़ानेवाले सात्त्विक खेल खेले।

७४–जूआ, ताश, चौपड़, शतरंज आदि प्रमादपूर्ण खेल न खेले।

७५–टोपी और घड़ीका फीता, मनीबेग, हैंडबेग, बिस्तरबंद, कमरबंद और जूता आदि चीजें यदि चमड़ेकी बनी हों तो उन्हें काममें न लाये।

७६–सिनेमा, नाटक आदि न देखे; क्योंकि इनसे जीवन खर्चीला तो बनता ही है, शौकीनी, अभक्ष्य-भक्षण, व्यभिचार आदि अनेक दोष भी आ जाते हैं, इससे जीवन पापमय बन जाता है।

७७–बुरी पुस्तकों और गंदे साहित्यको न पढ़े।

७८–अच्छी पुस्तकोंको पढ़े और धार्मिक सम्मेलनोंमें जाय।

७९–गीता, रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थोंका अभ्यास अवश्य करे।

८०–पाठ्य-ग्रन्थ अथवा धार्मिक पुस्तकोंको आदरपूर्वक ऊँचे आसनपर रक्खे। भूलसे भी पैर लगनेपर उन्हें नमस्कार करे।

८१–अपना ध्येय सदा उच्च रक्खे।

८२–अपने कर्तव्य-पालनमें सदा उत्साह तथा तत्परता रक्खे।

८३–किसी भी कामको कभी असम्भव न माने; क्योंकि उत्साही मनुष्यके लिये कठिन काम भी सुगम हो जाते हैं।

८४–किसी भी कामको करनेमें भगवान् श्रीरामको आदर्श माने।

८५—भगवान्‌को इष्ट मानकर और हर समय उनका आश्रय रखकर कभी चिन्ता न करे।

८६—अपना प्रत्येक कार्य स्वयं करे। यथासम्भव दूसरेसे अपनी सेवा न कराये।

८७—सदा अपनेसे बड़े और उत्तम आचरणवाले पुरुषोंके साथ रहनेकी चेष्टा करे तथा उनके सद्गुणोंका अनुकरण करे।

८८—प्रत्येक कार्य करते समय यह याद रक्खे कि भगवान् हमारे सम्पूर्ण कार्योंको देख रहे हैं और वे हमारे हितके लिये हमारे अच्छे और बुरे कार्योंका यथायोग्य फल देते हैं।

८९—सदा प्रसन्नचित्त रहे।

९०—धर्म-पालन करनेमें होनेवाले कष्टको प्रसन्नतापूर्वक सहन करे।

९१—न्याययुक्त कार्य करनेमें प्राप्त हुए कष्टको तप समझे।

९२—अपने-आप आकर प्राप्त हुए संकटको भगवान्‌का कृपापूर्वक दिया हुआ पुरस्कार समझे।

९३—मनके विपरीत होनेपर भी भगवान्‌के और बड़ोंके किये हुए विधानमें कभी घबराये नहीं, अपितु परम संतुष्ट और प्रसन्न रहे।

९४—अपनेमें बड़प्पनका अभिमान न करे।

९५—दूसरोंको छोटा मानकर उनका तिरस्कार न करे।

९६—किसीसे घृणा न करे।

९७—अपना बुरा करनेवालेके प्रति भी उसे दुःख पहुँचानेका भाव न रक्खे।

९८—कभी किसीके साथ कपट, छल, धोखाबाजी और विश्वासघात न करे।

९९—ब्रह्मचर्यका पूरी तरहसे पालन करे । ब्रह्मचारीके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए नियमोंका यथाशक्ति पालन करे ।

१००—इन्द्रियोंका संयम करे । मनमें भी किसी बुरे विचारको न आने दे ।

१०१—अपनेसे छोटे बालकमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसको समझाये अथवा उस बालकके हितके लिये अध्यापक अथवा अभिभावकोंको सूचित कर दे ।

१०२—अपनेसे बड़ेमें कोई दुर्व्यवहार या कुचेष्टा दीखे तो उसके हितैषी बड़े पुरुषोंको नम्रतापूर्वक सूचित कर दे ।

१०३—अपनी दिनचर्या बनाकर तत्परतासे उसका पालन करे ।

१०४—सदा दृढ़प्रतिज्ञ बने ।

१०५—प्रत्येक वस्तुको नियत स्थानपर रक्खे और उनकी सम्भाल करे ।

१०६—सायंकाल संध्याके समय भी प्रातःकालके अनुसार भगवान्के 'हरे राम' मन्त्रकी कम-से-कम एक माला अवश्य जपे और जिसका यज्ञोपवीत हो गया हो, उसको सूर्यास्तके पूर्व संध्या तथा कम-से-कम एक माला गायत्री-जप अवश्य करना चाहिये ।

१०७—अपनेमेंसे दुर्गुण-दुराचार हट जायँ और सद्गुण-सदाचार आयें, इसके लिये भगवान्से सच्चे हृदयसे प्रार्थना करे और भगवान्के बलपर सदा निर्भय रहे ।

१०८—अपने पाठको याद करके भगवान्का नाम लेते हुए सोये ।

बार-बार नहिं पाइये मनुष-जनमकी मौज

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्माको तथा संत-महापुरुषोंको सादर अभिवादन करके कुछ बातें कहनेकी चेष्टा करता हूँ। इन बातोंमें जो आपको अच्छी लगें, सुन्दर दीखें, उन बातोंको तो संत-महात्माओंकी, शास्त्रोंकी और भगवान्‌की माननी चाहिये तथा जो त्रुटियाँ हों, उन्हें मेरी। त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर अच्छी बातोंकी ओर ध्यान दें; कारण, जो महापुरुषोंके और भगवान्‌के वचन हैं वे मेरे और आपके लिये परम हित करनेवाले हैं, उन वचनोंके अनुसार आचरण करनेसे निश्चित कल्याण होता है। आप आचरण करेंगे तो आपका हित और कल्याण है तथा मैं करूँगा तो मेरा कल्याण है।

सबसे पहली एक विशेष ध्यान देनेकी बात यह है कि यह मानव-जीवनका समय बहुत ही दुर्लभ है और बड़ा भारी कीमती है श्रीमद्भागवतमें बताया है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥

'दुर्लभो मानुषो देहः'—यह मनुष्यसम्बन्धी देह—यह मानव-शरीर अत्यन्त दुर्लभ है। इसकी प्राप्तिके लिये बड़े-बड़े देवता भी

ललचाते रहते हैं; क्योंकि इससे बड़ी-से-बड़ी उन्नति हो सकती है। परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है, जीवका कल्याण हो सकता है और सदाके लिये उसे परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे दुर्लभ शरीरको प्राप्त करके जो इसे व्यर्थ ही खो देता है, उसे फिर बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है; क्योंकि यह सर्वथा अलभ्य, अमूल्य है। अतः इस मनुष्य-जीवनके एक-एक क्षणको ऊँचे-से-ऊँचे काममें बितानेकी चेष्टा करनी चाहिये। समयके समान कोई अमूल्य वस्तु नहीं है। संसारमें लोग पैसोंको बड़ा कीमती समझते हैं, आवश्यक समझते हैं; किंतु विचार कीजिये; जीवनका समय देनेसे तो 'पैसे' मिल जाते हैं, पर पैसे देनेसे यह 'समय' नहीं मिलता। हमारे जीवनके लिये हमारे पास हजारों, लाखों, करोड़ों रुपये रहनेपर भी यदि हमारी आयु नहीं है तो हमें मरना पड़ता है; किंतु यदि हमारी आयु बाकी हो, और हमारे पास एक भी कौड़ी न हो, तो भी हम जी सकते हैं। हमारे जीवनका आधार आयु है, न कि 'रुपया' इतना होनेपर भी हमारे भाई लोगोंकी पैसोंमें तो बड़ी भारी आसक्ति, रुचि और सावधानी है। वे बिना मतलब एक कौड़ी भी खर्च करना नहीं चाहते; परंतु 'समय'की ओर ध्यान ही नहीं है। हमारा समय इतनी देर कहाँ लगा और कहाँ गया, इसमें हमने क्या उपार्जन किया, क्या कमाया—इस ओर हमारा खयाल ही नहीं है। बड़े आश्चर्यकी बात है! ठीक कहा है श्रीभर्तृहरिने—

'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।'

इस प्रमाद-मदिरासे उन्मत्तता छायी हुई है। नशेमें जैसे

मनुष्यको अपने शरीरका, कपड़ोंका होश नहीं रहता, ऐसे ही इस विषयमें होश नहीं है; चेत नहीं है, इधर ध्यान नहीं है, लक्ष्य नहीं है। नहीं तो ऐसे अमूल्य समयका इस प्रकार सत्यानाश क्यों किया जाता; समय जो निरर्थक ही चला जाता है, यही उसका सत्यानाश करना है। ऐसे अमूल्य समयको कीमती-से-कीमती काममें लानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। क्या करें विचार करनेसे माल्रम होता है कि बहुत-से भाई तो तास-चौपड़, खेल-तमाशेमें ही समयको लगा देते हैं; बीड़ी-सिगरेट, हुक्का, चड़स, भाँग आदि नशेके सेवनमें इस समयको बर्बाद कर देते हैं तथा ऐसे ही हँसी-मजाकमें समय खो देते हैं। वे सोचते नहीं कि हम इस आयुमें उपार्जन क्या कर रहे हैं और खर्च कितना हो रहा है।

समय तेजीसे जा रहा है और समयके बीत जाते ही मौत उसी क्षण आ जायगी। मृत्युमें जो देर हो रही है, केवल हमारे जीवनका समय शेष है, उसीके आधारपर। हम जी रहे हैं—यह बुद्धिके आधारपर नहीं, बलके आधारपर नहीं, विद्याके आधारपर नहीं; बल्कि समयके आधारपर, जीवनके आधारपर, आयुके आधारपर। वह आयु इतनी तेजीसे निरन्तर जा रही है कि इसमें कभी आलस्य नहीं होता, कभी रुकावट नहीं होती। यह लगातार दौड़ती चली जा रही है और हम बिल्कुल असावधान हैं। कितने आश्चर्य और दुःखकी बात है! आश्चर्य इस बातका है कि बुद्धिमान् होकर हम इतनी हानि कर रहे हैं और दुःख इस बातका है कि परिणाम क्या होगा, इसका हम विचार नहीं कर रहे हैं। की हुई भूलका दुःख और

परिणाम कर्ताको ही भोगना पड़ता है, अन्य किसीको नहीं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह जल्दी-से-जल्दी आध्यात्मिक उन्नति-में अपने समयको लगाये। भर्तृहरिने कहा है—

> यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा
> यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
> आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
> प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

जबतक स्वास्थ्य ठीक है, वृद्धावस्था दूर है, इन्द्रियोंमें साधन—भजन-ध्यान करनेकी शक्ति है, आयु समाप्त नहीं हो गयी है, विवेकी बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि तभीतक आध्यात्मिक उन्नतिके लिये बड़ा भारी प्रयत्न कर ले; क्योंकि घरमें आग लग जाने-पर कोई कहे कि जल्दी करो, कुआँ खुदवाओ, आग लग गयी है, जल चाहिये, तो यह सुनकर चाहे कितनी ही जल्दी की जाय, उद्योग किया जाय; किंतु अब कुआँ खुदकर कब जल आयेगा। आयु तो जल्दी-जल्दी खतम हो रही है, इसलिये जल्दी-से-जल्दी अपने उद्धारके लिये चेष्टा करनी चाहिये। आध्यात्मिक उन्नतिके लिये देर नहीं करनी चाहिये। दूसरे जो सांसारिक काम हैं, वे आप करेंगे तो भी हो जायँगे और आप न करेंगे तो आपके बेटे-पोते इनको कर लेंगे; परंतु आपका कल्याण कौन-से बेटे-पोते कर लेंगे। आपके पास हजारों-लाखोंकी सम्पत्ति है, बहुत धन है, बड़ा कारोबार है; किंतु आपका शरीर जा रहा है और पीछे कोई कुटुम्बी भी नहीं है तो जितना धन है, उसको राज्य सँभाल लेगा, आपकी मिलों, फैक्टरियोंको राज्य चला लेगा; पर आपके उद्धारमें कमी रहेगी तो उसको

कौन पूरी करेगा। यह काम दूसरेसे होनेवाला नहीं; इस कामको तो आप स्वयं ही करेंगे तभी होगा, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि दूसरे जितने भी काम हैं, उनकी ओर ध्यान न देकर केवल एक आध्यात्मिक उन्नतिकी ओर ही ध्यान दे। नीतिकारोंने भी कहा है—

'कोटिं त्यक्त्वा हरिं स्मरेत्।'

—करोड़ों कामोंको छोड़कर एक भगवान्का स्मरण करना चाहिये। दूसरे मौके तो हरेकको मिल जाते हैं, पर यह मौका बार-बार नहीं मिलता।

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी॥

खाना, पीना, ऐश-आराम करना आदि तो मनुष्य क्या, पशु-पक्षियोंमें भी हो जाता है; परंतु आध्यात्मिक उन्नतिका अवसर मनुष्ययोनिके सिवा और कहीं नहीं है। इसलिये बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये। आजतकका समय चला गया है, विचार करनेसे दुःख होता है। संतोंने कहा है कि भजनके बिना जो दिन गये, वे हमारे हृदयमें खटकते हैं। किंतु भाइयो! अब क्या हो!

अब पछिताए होत क्या (जब) चिड़िया चुग गई खेत।

समय चला गया, उसके लिये पछतानेसे क्या होगा। अब तो यही है कि 'गई सो गई, अब राख रहीको।' जो समय बचा है, उसी समयको सावधानीके साथ ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगानेकी विशेष चेष्टा करें तो आगे नहीं रोना पड़ेगा। हो गया सो हो

गया; परंतु अब आगेके लिये पूरे सावधान हो जायँ, तभी हमारा जीवन सफल हो सकता है।

आप कहेंगे कि इतने दिन चले गये, अब क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि अब भी निराश होनेकी बात नहीं है। जैसे कुएँमें बहुत रस्सी चली जाती है, पर एक हाथभर भी रस्सी यदि हाथमें रहती है तो उससे लोटेको कुएँसे बाहर निकालकर जल पी लेते हैं; पर यदि वह हाथभर भी रस्सी हाथमें नहीं रहती वह भी हाथसे छूट जाती है तो फिर ऐसा नहीं है कि वह हाथभर ही नीचे जायगी; । वह तो कुएँमें नहीं, कुएँके जलके भी नीचे तहमें चली जायगी। फिर तो उसे निकालनेके लिये बड़ी रस्सी चाहिये, काँटा चाहिये और जब बहुत देर मेहनत करेंगे, तब कहीं वह लोटा-डोरी मिलेगी। नहीं तो, बड़ी कठिनता है। ऐसे ही आजतककी आयु कुएँमें गयी। ऐसी गयी कि काम नहीं आयी; किंतु अब भी जो थोड़ी-सी उम्र शेष है, उसीको अच्छे काममें लगा दें तो हमारा मनुष्य-जीवन सफल हो सकता है; पर यदि आयुका यह बचा हुआ थोड़ा-सा समय भी यों ही बीत गया तो फिर सिवा पश्चात्तापके और कुछ नहीं होगा। क्या पता है कि फिर यह मानव-जीवन कब मिलेगा।

बार-बार नहिं पाइये मनुष-जनमकी मौज।

मनुष्य-जन्म बार-बार नहीं मिलता। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ बचे हुए समयको आध्यात्मिक उन्नतिमें विशेषरूपसे लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।
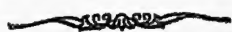
श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

भक्त बालक—पाँच बालक भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ७६, सचित्र, मूल्य .४०
भक्त नारी—पाँच स्त्री भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ६८, चित्र ६ मूल्य ... .४०
भक्त-पञ्चरत्न—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र २, मूल्य ... .४०
आदर्श भक्त—सात भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ९८, चित्र १२, मूल्य ... .४०
भक्त चन्द्रिका—छः भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८ सचित्र, मूल्य ... .४०
भक्त-सप्तरत्न—सात भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... .४०
भक्त-कुसुम—छः भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८४, सचित्र, मूल्य ... .४०
प्रेमी भक्त—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... .४०
प्राचीन भक्त—पंद्रह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १५२ चित्र ४, मूल्य ... .६०
भक्त सौरभ—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ११० सचित्र, मूल्य ... .४०
भक्त-सरोज—दस भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १०४ सचित्र, मूल्य ... .४५
भक्त-सुमन—दस भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र ४, मूल्य ... .४५
भक्त-सुधाकर—बारह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य .६०
भक्त महिलारत्न—नौ भक्त महिलाओंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मू० .५५
भक्त-दिवाकर—आठ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य .५५
भक्त-रत्नाकर—चौदह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य .५५

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है।

अन्य पुस्तकोंका सूचीपत्र अलग मुफ्त मँगाइये।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)